



समकालीन हिंदी उपन्यास और दिक्कू समाज का आदिवासी चिंतन

रोहिणी अग्रवाल

‘सभ्यता न वेशभूषा है, न पोशाक। संस्कृति पाउडर, टीका, सरकारी चाकरी, वेतन नहीं है। दोपहर के भोजन में गुड़ और दलिया तथा उबली दाल के लिए कतार बांध स्कूल आना शिक्षा नहीं। खाद, बीज, भैंसा, मुर्गी पालना प्रगति नहीं है। आदमी सभ्यता बनाता है या सभ्यता आदमी को बनाती है?’ (प्रतिभा राय, आदिभूमि, पृष्ठ 294)

मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि इस लेख की परिकल्पना के मूल में रणेन्द्र के उपन्यास ‘ग्लोबल गांव के देवता’ की अहम भूमिका रही है। दरअसल कोई भी साहित्यिक कृति अपने समय और समाज के जटिल यथार्थ और मनोविज्ञान से मुठभेड़ का स्वायत्त प्रयास भर नहीं होती, बल्कि अपनी बृहत्तर भूमिका का विस्तार करते-करते वह वक्त को चीन्हने और पुनर्सृजित करने की एक अति संक्षिप्त और कालाबद्ध साहित्यिक कोशिश मात्र होती है। रचनाकार की संवेदना, व्यग्रता, कल्पना और सरोकारों को अंतर्दृष्टि में गूँथ कर रचना जिस कोण के साथ अपने को पात्रों-घटनाओं के माध्यम से व्यक्त करती चलती है, वह एक इकाई के रूप में उसकी लेखकीय क्षमताओं और सीमाओं का उद्घाटन करने के पश्चात् उसी परंपरा में रचित अन्य कृतियों का पाठ करने की आकांक्षा और अनिवार्यता को भी तीव्रतर करती है। यह निर्विवाद सत्य है कि समस्या को समग्रता में जांचने की लालसा ही गंभीर पाठक को रसलोलुप पाठक होने के स्वल्पन से बचाती है। ध्यातव्य है कि जब कोई कृति पाठ के तुरंत बाद उसी परंपरा में रचित किसी अन्य पुस्तक की तलाश में व्यग्र कर दे तो यह उस कृति विशेष की वैचारिक दुर्बलता नहीं, बल्कि साहित्यिक सेतु बनाने की सर्जनात्मक विशिष्टता है। जाहिर है इस क्रम में आदिवासी केन्द्रित अनेक उपन्यासों को पढ़ने के बाद मात्र एक कृति विशेष के विश्लेषण तक सीमित हो जाना कठिन हो जाता है। लेकिन इस दौरान एक हैरतअंगेज तथ्य भी उभर कर सामने आया कि आदिवासी जीवन, समाज और समस्याओं पर सभी उपन्यासों में न्यूनाधिक एक-सा ट्रीटमेंट है - कुछ-कुछ फार्मूलाबद्ध सरलीकृत लेखन सरीखा जहां रेणु (मैला आंचल का रोमानपरक यथार्थ) और प्रेमचंद (गोदान का अवसादपूर्ण यथार्थ) की प्रभाव ध्वनियां घुलमिल कर अपनी एक विशिष्ट लय-तान बनाती हैं। प्रस्तुत आलेख में चार उपन्यासों को अध्ययन का आधार बनाया गया है - ‘रूपतिल्ली की कथा’, ‘पठार पर कोहरा’, ‘पांव तले की दूब’ और ‘ग्लोबल गांव के देवता’। साथ ही महाश्वेता देवी के बांग्ला उपन्यास ‘अग्निगर्भ’ और प्रतिभा राय के उड़िया उपन्यास ‘आदिभूमि’ को भी लिया

गया है ताकि जाना जा सके कि आदिवासी क्षेत्रों में काम करके अनुभव बटोरने वाले रचनाकार स्वयं को रोमानी छायाओं से मुक्त कर क्या खुरदरे यथार्थ को अधिक गहराई और तीव्रता से उकेर पाए हैं? उल्लेखनीय है कि इन सभी उपन्यासों में ('अग्निगर्भ') को छोड़ कर कुछ तथ्य बेहद समान भाव से उभरते हैं कि

(I) भ्रांत प्रचार ने बेशक मुख्यधारा के सभ्य-सुसंस्कृत समाज के मन में कुछ पूर्वग्रह जमा दिए हैं कि आदिवासी हिंस्र, बर्बर और 'मानुषमारू' होते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि वे बेहद निश्छल, निरीह और आत्मकेन्द्रित सशक्त प्राणी हैं।

(II) कि एक तीर से उड़ती चिड़िया को मार गिराने वाले या निहत्थे बाघ का पेट फाड़ देने वाले बहादुर वनवासी 'दिकू' (सभ्य) समाज की आचार-संहिता से बेहद खोफजदा हैं। चूंकि वे सभ्य समाज की कुटिलताओं का मुकाबला करना नहीं जानते, इसलिए अपने ही 'बिल' में घुस कर वे अपने को और अधिक असुरक्षित, अकेला और उपेक्षित कर लेते हैं।

(III) कि मादक द्रव्यों (सलप, हड़िया) के नशे में धुत आदिवासी न अपने वर्तमान को लेकर चिंतित हैं, न भावी पीढ़ी के भविष्य-निर्माण को लेकर सजग। गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास और वैचारिक जड़ता ने उन्हें पशुओं से भी बदतर बना दिया है जहां न 'हाइजीन' की समझ है, न डॉक्टरों सुविधाएं लेने की चेतना। हर रोग-शोक की एक ही रामबाण औषधि है - बलि या टोना-टोटका।

(IV) कि इसी आत्मसंकोची और आत्मघाती प्रकृति ने उन्हें मुख्यधारा के समाज के सामने प्रदर्शनी की वस्तु बना दिया है। आदिवासी यानी नग्नप्राय देह पर मृगछाल, मोरपंख और शस्त्रों को सज्जित कर राष्ट्रीय पर्वों पर गाता-नाचता मानवझुंड।

(V) कि वक्त से कटे इस समाज को अपने लिए एक मसीहा की जरूरत है और बतर्ज 'मैला आंचल' डॉ. प्रशांत की भूमिका में मास्टर वेशधारी मसीहा इन वनांचलों में आवाजाही करते हैं। संघर्ष और असफलता के अवसाद के बीच इन 'मसीहाओं' को कहीं विश्वास भी है कि अंचल एक न एक दिन जाग उठेगा और अपने पैरों चल कर अपने हक की लड़ाई लड़ेगा। पूरब की लाली बन कर यह विश्वास लगभग हर उपन्यास के क्षितिज पर जगमगा रहा है, लेकिन क्या यह अपने इर्द-गिर्द बुनी तलख सच्चाइयों और स्वार्थपूर्ण क्षुद्रताओं की ओर से आंख मूंदने की शतुरमुर्गी कोशिश नहीं क्योंकि विकास की चाहना करने वाले आदिवासी समाजों तक विकास की विकृतियों और विद्रूपताओं को पहचानने वाला सभ्य समाज उन्हें जी-जान से पिछड़ा और आदिम बनाए रख कर ही अपना वर्चस्व और समृद्धि बढ़ाते रहना चाहता है।

फिर भी, इन कथाखंडों के पार हर उपन्यास का अपना विशिष्ट महत्व है और समस्या को देखने-जूझने का एक अलग कोण भी। मसलन झारखंड के कोयलबीघा क्षेत्रा के भौरापाट गांव में स्कूल अध्यापक के रूप में नौकरी ज्वाइन करने गया रणेन्द्र का कथावाचक बेहद ईमानदारी से स्वीकार करता है कि जिस असुर जनजाति के बीच वह काम कर रहा है, वह पुराकथाओं में वर्णित असुरों जैसी अ-मनुष्य तो नहीं। 'खूब लंबे-चौड़े, काले-कलूटे भयानक, दांत-वांत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग' नहीं, 'न सूप जैसे नाखून, न खून पीने वाले दांत', बल्कि बेहद सुदर्शन और संवेदनशील - किसी भी सभ्य मनुष्य की तरह। लेकिन रणेन्द्र की आक्रोशमयी लेखकीय व्यग्रता जहां इस दुष्प्रचार को पूर्वग्रह के रूप में पोसने वाली मानसिकता का विश्लेषण करने के क्रम में असुर जनजाति के इतिहास को खंगालते हुए सभ्य समाज के षड्यंत्रों को बेनकाब करती है और उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने में अभिव्यक्त हुई है, वहीं श्रीप्रकाश मिश्र का अभिजात संस्कार 'रूपतिल्ली की कथा' में इन पूर्वग्रहों के नागपाश में फंस कर मेघालय की 'खासी जनजाति को बर्बर-मानुषमारू' जनजाति के रूप में चित्रित करने में एड़ी-चोटी का जोर लगाते हुए 'हम' और 'वे' के विभाजनों को पुख्ता करता चलता है।

1

'परंपरा कोई नहीं बदलता क्योंकि परंपरा ही एक कौम की पहचान बनाती है' बनाम *'आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं - अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता'* ²

शायद इसीलिए श्रीप्रकाश मिश्र बीसवीं सदी के प्रारंभिक कालखंड में उपन्यास की कथा विन्यस्त करते हैं जब देश में अंग्रेजी साम्राज्य जड़ें जमा रहा था और पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति से अछूता भारत सामंती मूल्यों को जीता हुआ अपनी ही नफरत और हिंसा की आग में झुलसता जा रहा था। न राष्ट्र की परिकल्पना, न एकता का भाव। बस, आपसी विद्वेष, कलह और फूट...छोटे-छोटे भूखंडों में सिमटी 'देश' की चौहदियां और उन पर हुकूमत करते 'राजा'। अपने से परे व्यक्ति और समय को देखने का न अवकाश, न बोध। अपने में बंद छोटी इकाइयां - दंभ में फूलती, ईर्ष्या में फुंकी। मेघालय में धर्म के नाम पर हिंदू या मुसलमान की शिनाख्त नहीं, लेकिन व्यक्ति के अंतर्मन में पलती और फूलती मानसिकता शेष भारत से भिन्न नहीं। श्रीप्रकाश मिश्र खासी जनजाति के इतिहास को खंगालते हुए उनकी राजनीतिक-सांस्कृतिक विशिष्टताओं को खास अंदाज में रेखांकित करते हैं। वे इतिहास के जिस संक्रमणशील कालखंड में कथा का वितान फैलाते हैं, वहां राजनीतिक तौर पर पांच अलग-अलग रियासतों -

खिर्रिम, चेरा, मिल्लिम, निजपत, नाइख्लाऊ - में विभाजित खासी जनजाति बाहरी ताकतों से बचने के लिए अकेले-अकेले जद्दोजहद कर रही है। विदेशी धर्म - ईसाई व हिंदू (उल्लेखनीय है कि भारत का हिस्सा होने पर भी मेघालय स्वयं को हिंदू धर्म एवं संस्कृति का अविच्छिन्न हिस्सा नहीं मानता। उसके लिए हिंदू धर्म उतना ही अग्राह्य, संदिग्ध एवं बाहरी है जितना ईसाई धर्म) - और विदेशियों को लेकर उनके अपने प्रतिकार और स्वीकार हैं और उनके जरिए सिद्ध होने वाले अपने-अपने राजनीतिक लाभ भी। धर्म परिवर्तन सांस्कृतिक समन्वय या उदार दृष्टि का परिणाम हरगिज नहीं। धर्म परिवर्तन अपने मूल धर्म की आस्थाओं-मान्यताओं से असहमति के कारण उपजी वितृष्णा नहीं है। न ही नए के आलोक में अपनी परंपराओं के पुनरावलोकन का अभिज्ञान। दरअसल धर्म परिवर्तन अपने मूल चरित्र को अपरिवर्तनीय बनाए रखने के हठ के साथ बिना किसी वैचारिक समझ के एक स्थिति से दूसरी स्थिति में छलांग लगा कर विशिष्ट और क्रांतिकारी होने की साध है। इसलिए प्जार राजा हिंदू धर्म में दीक्षित होने के साथ-साथ खासी परंपराओं को भी आग्रहपूर्वक जीता है और तांत्रिकों को आश्रय देकर योग साधना का पुण्य लाभ भी बटोरना चाहता है। बात-बात में पशु बलि और नर बलि का आयोजन - रोज-रोज आने वाले उत्सव-पर्व हों या घड़ी-घड़ी आने वाली बाधाएं और बीमारियां। श्रीप्रकाश मिश्र बेहद रागात्मक तल्लीनता के साथ खासी संस्कृति के वैशिष्ट्य को उपन्यास में अनावृत्त करते चलते हैं, लेकिन जन्म-मृत्यु, विवाह-तलाक, सर्पपूजा-नदी पूजा, राजा की दीर्घायु कामना का पर्व-मनुष्य और पशु के रक्त से नहाई जमीन पर हर्षातिरेक से नाचते और रक्त सने कच्चे मांस का प्रसाद पाते उन्मत्त स्त्री-पुरुष अंतिम परिणति के रूप में जिस प्रभाव को बुनते हैं, वह उन्हें बलपूर्वक मुख्यधारा के सभ्य समाज का विलोम दर्शाता है जो जितने कौतुक की वस्तु है, उतने ही भय और घृणा का पात्र भी।¹ तब अनायास सवाल उठता है कि यह उपन्यास क्या आदिवासी समाज से अपरिचयजन्य दूरी को पाटने के लिए रचा गया है या दूरी को यथावत् बनाए रखने के सांस्कृतिक अभिमान को पुष्ट करने के लिए? कि यह सांस्कृतिक अभिमान क्या मुख्यधारा के आभिजात्यपूर्ण दंभ पर व्यंग्य है या आदिवासी समाज की संकुचित सोच पर विलाप? बेशक श्रीप्रकाश मिश्र खासी संस्कृति के सम्मोहन में बिंध कर सांस्कृतिक सेतु बनाने के लेखकीय दायित्व को भूल गए हैं, लेकिन एकाध स्थल पर उसी तल्लीनावस्था में वे एक-दो मार्के की बातें भी कह जाते हैं। जैसे खासी राज्यों का जनतांत्रिक विधान⁴; योगी के प्रभाव के कारण जनतंत्र से राजसत्ता की ओर प्रयाण की क्रमिक यात्रा⁵; मातृप्रधान खासी समाज में स्त्रियों की दायम स्थिति⁶ अंतिम दो स्थल निश्चय ही किसी भी उन्नत कौम के वैचारिक

विघटन के चिन्ह हैं जहां आदिम अवस्था में परिवेशगत दबावों से उपजी बलि जैसी तात्कालिक अनिवार्यताएं अनुष्ठानमूलक अर्हताएं बन जाती हैं और अतीत से चिपटे रहने की जिद सांस्कृतिक अभिमान। आदिवासी आज भी इसीलिए आदिम हैं क्योंकि वे वर्तमान और भविष्य दोनों की ओर पीठ किए रहते हैं। अंग्रेज राली चूंकि विदेशी है और खासी समुदाय के मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अंदरूनी स्वरूप से नितांत अपरिचित - इसलिए वह राजपरिवार की प्रमुख जयंती को 'राजा' - नियामक शक्ति - मान कर उसे समयानुकूल परिवर्तनों को खासी विधान में स्थान देने को प्रेरित करता है। लेकिन जयंती अतीतोन्मुखी परंपरा की परिक्रमा करती जड़ स्त्री है - अस्मिता और चेतना से शून्य एक प्रतिच्छाया मात्र। इसलिए राली के इस तर्क से वह सहमत नहीं कि राज्य की असली शासक वह स्वयं है, सियेम नहीं; कि प्रजा को नरबलि जैसी जघन्य परंपराओं से मुक्त करने के लिए उसे अपनी शक्ति का उपयोग कर नया कानून बनाना चाहिए। जयंती अपने विश्वास पर अटल है कि 'राजा का काम आइन (कानून) चलाना होता है, बनाना नहीं, ... आइन हमें परंपरा से मिलता है' और 'परंपरा कोई नहीं बदलता क्योंकि परंपरा ही एक कौम की पहचान बनाती है। वही अपने लोगों में एका स्थापित करती है। वही दूसरी कौमों से अलगती है।' परंपरा का आतंक व्यक्ति को कूपमंडूक बनाता है और कूपमंडूक को ईश्वर का बड़बोला प्रतिनिधि। जाहिर है समय यहां बहता नहीं, एक प्रलयकारी भंवर बन कर अपने भीतर लील लेता है - उर्वरता, सृजनात्मकता और संभावनाओं का अनंत व्योम।

श्रीप्रकाश मिश्र का लक्ष्य यथार्थ से मुठभेड़ कर परंपरा के आतंक से रुद्ध व्यक्ति-मानस के द्वंद्वों, छटपटहाटों और प्रतिकार की नाकाम(?) कोशिशों को सतह पर लाना नहीं है। ऐसा होता तो सांस्कृतिक कसीदाकारी से विरत हो वे राफताब की विधवा नजवा के चिंघाड़ते आक्रोश और मुक्तिकामी चेष्टाओं पर ध्यान केन्द्रित करते जो नरबलि प्रथा की शिकार होकर ईसाई धर्म स्वीकार करने वाली पहली स्त्री बनती है। लेकिन नजवा चरित्र नहीं, सूचना भर है। उड़िया उपन्यासकार प्रतिभा राय 'आदिभूमि' उपन्यास में ओडीशा के बोंडा आदिवासी समाज की कथा कहते हुए नजवा सरीखे एक पात्र को रचती हैं - लछमी टोकी। बात-बात पर जहर बुझे तीर छोड़ कर अपने संगी-साथी को मौत की नींद सुला देने वाला बोंडा समाज मूलतः 'मानुषमारू' समाज है जहां हत्या करके छुपने का जतन नहीं किया जाता, जेल में बंद करने के आग्रह के साथ पुलिस के समक्ष आत्मसमर्पण किया जाता है ताकि चौदह साल जेल की सलाखों के पीछे जान की सलामती का आश्वासन मिल सके। लौटने पर फिर वही हत्या और जेल का क्रम। यानी बोंडा पुरुष-समाज बारह-चौदह वर्ष की वय में किसी का तीर खाकर जान

से हाथ धो बैठता है या किसी को तीर से सुला कर जेल में जीकर तिल-तिल मृत्यु की बाट देखता है। अनिश्चितताओं से भरे उस समाज में सिर्फ एक ही चीज निश्चित है - मृत्यु। लछमी टोकी पति को खोकर रोते-बिलखते हुए या पुनर्विवाह करके अपने बेटे की तकदीर में बाप की भाग्य लिपि नहीं लिखना चाहती। वह पहाड़ से उतर कर तल बोंडा समाज (जो ऊपर-बोंडा से अधिक विकसित समाज है क्योंकि मुख्यधारा की सभ्यता के सम्पर्क में आकर शिक्षा एवं परिवर्तन के महत्व को समझ कर विकास का स्वागत करता है। इसी के कारण ऊपर के बोंडा तल-बोंडा को विश्वासघाती कह घृणा करते हैं) में अपनी जगह बनाती है, बच्चों को पढ़ा-लिखा कर उन्नत और सुरक्षित भविष्य देती है और ऊपर बोंडा समाज की नई पीढ़ी के समक्ष सकारात्मक प्रतिरोध का उदाहरण बन कर अस्मिता संघर्ष का सूत्रपात करती है। उल्लेखनीय है कि लछमी टोकी चुप्पा है और अदृश्यप्राय भी। बस, अपनी कन्चिक्शन्स को लेकर दृढ़ हैं और संघर्षशील भी। लेखिका ने लछमी टोकी को कथा परिदृश्य से अनुपस्थित रखा है, अलक्षित नहीं क्योंकि वे जानती हैं कि संघर्षशीलता तहखानों में कैद की जा सकने वाली लौ नहीं। प्रतिभा राय की खासियत है कि बोंडा समाज की कथा कहते हुए वे श्रीप्रकाश मिश्र की तरह सांस्कृतिक वैशिष्ट्य उकेरने की धुन में मानव चरित्र को नजरअंदाज नहीं करतीं। बोंडा समाज उनके लिए कौतुक की वस्तु नहीं, शोध का विषय है। नहीं, आठ वर्ष लगातार उनके बीच रहने के बाद बोंडा समाज शोध का विषय भर नहीं रहता, वंचित-उत्पीड़ित मनुष्यता का प्रतीक बन जाता है जिसकी दुर्दशा के लिए जितनी उसकी अपनी जड़ता जिम्मेदार है, उतनी ही मुख्यधारा के कुलीन तंत्र की हृदयहीनता भी। वे एक निःसंग तटस्थता के साथ बोंडा समाज का सांस्कृतिक जीवन नहीं उकेरतीं, एक गहरी इन्वॉल्वमेंट के साथ जड़-रुग्ण परंपराओं का विश्लेषण करती हैं। इन जड़-रुग्ण परंपराओं को वे बदल नहीं सकतीं, लेकिन इनकी जकड़ में जकड़ी आर्त पुकारों और छटपटाहटों को देह और वाणी देती हैं। श्रीप्रकाश मिश्र की तरह वे विवाहोत्सव का चलचित्रनुमा दृश्य उपस्थित नहीं करतीं, बल्कि बोंडा विवाह संस्था के स्वरूप को ही प्रश्नांकित करती हैं। बीस-बाईस वर्ष की धांगड़ी (कन्या) का आठ-दस वर्ष के धांगड़े से विवाह... युवा पत्नी के यौवन से घबरा कर मां के आंचल में मुंह छुपाता बालक-पति... पति के युवा होने तक उसकी धीर प्रतीक्षा या ससुर (बुढ़ा गई पत्नी का युवा पति) की कामातुर क्षुधा से अपनी कामक्षुधा तृप्त करने की चेष्टा ... इस अनमेल विवाह का सारा सरंजाम क्या मात्रा इसलिए कि बोंडा समाज में 'पति स्त्री का सहारा नहीं, स्त्री होती है पति का सहारा'? बेशक बालक पति के साथ गृहस्थी रचाती सोमवारी का असंतोष सवाल बन कर पीड़ा और आंसुओं में बह गया है कि 'छोटे वर को बड़ी कन्या क्यों? क्या सुख

है इसमें? क्यों झूठे सपने, झूठा जीवन, लुका-छिपी, संदेह... मरण को जानबूझ कर बुला रही हो?' (आदिभूमि, पृ0 71) लेकिन उसकी अगली पीढ़ी की धांगड़ी सोमवारी और मंगली में अपनी आकांक्षाओं को पहचानने और निर्णयों को सुनाने की ताकत है - 'हम अशिक्षित, माताल, मानुषमारु बोंडा धांगड़ा नहीं चाहतीं। चाकरी करती हैं, चाकरी वाले मरद से ब्याह करेंगी।' (पृ0 245)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। हवा की तरह अदृश्य किंतु हर जगह मौजूद। 1985 से 1993 वर्ष की कालावधि के बीच बोंडा समाज के बीच रह कर प्रतिभा राय ने उनकी जड़ता और हठधर्मिता को जितने निकट से देखा है, उतने ही हैरत से इस तथ्य को भी महसूस है कि परिवर्तन की बेआहट आवाज पुरानी-नई पीढ़ी को नई रंगत और नया स्वाद देने लगती है। बस, इस 'नए' की प्रकृति को पहचानना जरूरी है कि वह लोभ-लालसाओं की रपटीली डगर पर धक्का देने का उपक्रम है या बोध और संवेदना को गूंध कर बनी चेतना का दूसरा नाम। प्रतिभा राय जानती हैं बोंडा मरद कामचोर है और माताल भी। वह अभाव से उतना नहीं डरता, जितना देह की मेहनत से डरता है। 'बोंडा मरद का सपना पतला है, सेलानी (स्त्री) के रिंगा (डेढ़ बाइ तीन फुट का कपड़ा जिसे कमर पर बांधा जाता है) की तरह संकरा, मगर सेलानी के रिंगा की तरह रंगीला-धारीदार। सुबह सूरज उगता है, तब वह उठे। सलप तले बैठ आलस उतारता है, मीत भाई के संग गपशप करेगा। सापुंग चढ़ाएगा। जब सूरज सिर पर उठ जाएगा, वह नशा मगज में भर जाएगा। धूप चुभे इससे पहले वह लड़खड़ाता गांव की ओर लौटेगा। सिंदबोर पर बैठ जमुहाई लेगा। पेट भर भात-मांस हो गया तो नशा खूब जमेगा। फिर सांझ में सलप की डालियां झूम-झूम कर इशारा करेंगी - किसी और को सुनाई न दे। बोंडा मरद को सुनाई दे तो वह फिर पेट भर सलप पीकर खोजेगा अंकुई (औरत) की देह। यही तो है बस बोंडा का सपना। कितना छोटा! कितना गाढ़ा!' (पृ042) उत्सव-पर्व हो या यों ही मांस खाने की ललक - पालतू गोरु काट कर खा डालने में भी परहेज नहीं। विकास की लहर के साथ बोंडा पहाड़ पर पहुंचे डब्बू (रूपे) के प्रति उसके मन में लोभ पनपा है और साथ ही बात-बात पर हाथ फैला कर 'डब्बू' मांगने की निर्लज्जता भी, लेकिन विकास कार्यक्रमों का कुल सत्य यही तो नहीं। किसी भी तरह के सामान्यीकरण से बचते हुए वे बोंडा समाज को फ्रेमजडित तस्वीरों में रिड्यूस नहीं करतीं, बल्कि उन्हें जिंदगी की हलचलों और थपेड़ों के बीच धकेल स्वयं अपनी नियति और प्रकृति से जूझने का मादा देती हैं। इसलिए सोमा मुदली से सोमारा तक सौ वर्ष की कथा कहते हुए वे जिस बोंडा पुरुष समाज का चित्र उकेरती हैं, वह एक ही छवि का जीरोक्स नहीं, बल्कि अलग-अलग रंग-रेशों से बुनी जीवंत मानवाकृतियां हैं। 'रूपतिल्ली की

कथा' में नहीं हैं तो ऐसी बतियाती, विघटित होती या विघटन के बीच आत्मान्वेषण करती मानव आकृतियां। इसलिए अपने पात्रों के जरिए जब-जब श्रीप्रकाश मिश्र जीवन-जगत के रहस्यों पर विचार करने के लिए तत्व चिंतन का सहारा लेते हैं, तब-तब एक आरोपित फलसफे के साथ वे कथा की गति और पात्रों की विश्वसनीयता दोनों को भंग कर डालते हैं। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है नर बलि के संदर्भ में देवधर झकाड़ी का द्वंद्व - 'आदमी का जीवन खाकर जो आदमी को जीवन दे, भला वह भी कोई देवता! जो आदमी को पालनेवाला होगा, वह क्या आदमी को खाएगा? लेकिन यह सब तर्क की बात नहीं है, विश्वास की बात है। तर्क की सीमा होती है, विश्वास की नहीं।' (पृ० 136) उल्लेखनीय है कि यह वही देवधर है जो प्यार राजा की दीर्घायु के लिए दो-दो नरबलियों का 'सफल' आयोजन करता है और नजवा द्वारा नरबलि के विरोध में ईसाई धर्म स्वीकारने के प्रसंग में अपनी बर्फीली चुप्पी के साथ नरबलि समर्थक भीड़ का एक हिस्सा बना रहता है। ठीक इसी तरह राफताब के मनन^{१०} और निस्सोर सिंह रिंजा के व्यर्थता बोध^{११} को भी लिया जा सकता है जो उनकी मूल प्रकृति और जीवन शैली से भिन्न आरोपित मुद्राएं भर हैं। कहना न होगा कि 'रूपतिल्ली की कथा' उपन्यास गति के अभाव के कारण स्टिल फोटोग्राफी का नमूना बन कर रह गया है। यह एक सांस्कृतिक एलबम भर है, आदिवासी समाज के साथ संवाद करने की संभावनाएं वहां नहीं हैं।

2

'शिकारियों के बूटों की धमक/साफ सुनाई दे रही है/ बच नहीं पाओगे/जख्मी हिरण/बच नहीं पाओगे'^{१०}

झारखंड के मुंडा-उरांव आदिवासियों की कथा कहते हुए राकेश कुमार सिंह अपनी आब्जर्वेशन को सवाल बना कर उठाते हैं कि 'आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति हमारे सुसंस्कृत समाज का रवैया मनोरंजन मात्र का ही तो रहा है... जंगल के बाहर सदैव यही दूढ़ने के प्रयास किए जाते हैं कि जनजातियों के जीवन में अद्भुत क्या है? क्या विलक्षण है जिसका आस्वादन चटखारे लेकर किया जा सकता है?... क्यों है आदिवासी समाज के जीवन में इतना दैन्य? अभाव, शोषण और उपेक्षा के पाठों में क्यों पिसती रही हैं झारखंड की जनजातियां? प्रारम्भ से ही क्या सभ्य समाज इन्हें मानवेतर जाति के रूप में नहीं गिनता रहा है? क्या अरण्यभूमि सभ्य समाज के हिंस्र, अदूरदर्शी और स्वार्थान्वेषी आक्रमणों से ही निहत नहीं होती रही है? (पठार पर कोहरा, पृ० 154) कहना न होगा कि यह एक शालीन लेखकीय मुद्रा है जो एक गर्वोन्नत ऊंचाई के साथ तलछट की 'गंदगी' को उलटने और खोखली सहानुभूति देकर उन्हें वहीं छोड़ आगे बढ़ जाने के नागर संस्कार को दर्शाती है। यह सर्वविदित है कि मुख्यधारा के समाज के

पास ताकत, संसाधन और भाषा-जिसकी लाठी उसकी भैंस- सारे हथियार हैं। तब बहुसंख्यक होने की आश्वस्ति भरी प्रतीति अपने से इतर हर शख्सियत और संस्कृति को हीनतर घोषित करती चलती है और श्रेष्ठ होने की अहम्मन्यता तुलना करते समय तराजू के एक पलड़े को अपनी ओर झुकाए रखने की धृष्टता देती है। इसलिए किसी को भी दूसरे पाले में प्रतिद्वंद्वी के रूप में खड़ा कर 'चीर हरण' करना जरा भी कठिन नहीं रहता। लेकिन इतना तय है कि दूसरे को प्रदर्शनी की वस्तु बनाने के तमाम प्रयास कहीं अपनी ही वैचारिक नपुंसकता और मानसिक दुर्बलता को व्यक्त कर देते हैं। जरूरत निःसंग भाव से इन्हें चीन्हने और अपने को जांचने की है। दुर्भाग्यवश चारों उपन्यासों में वर्ण्य विषय - आदिवासी समाज- के प्रति गहरी इन्वॉल्वमेंट के बावजूद अपने पाले में डट कर खड़े रहने की इतनी अधिक व्याकुलता है कि वे आदिवासियों को मनोरंजन और प्रदर्शनी की वस्तु बनाते हृदयहीन दिक् समाज को एक अदद चेहरा, व्यक्तित्व और धड़कन देकर अलग से रचते-चीन्हते नहीं, उन्हें व्यवस्था का प्रतिनिधि बना कर मशीनी और बेजान रूप दे देते हैं। जाहिर है बेजान चीजों से न सवाल किए जा सकते हैं और न दुर्घटना के लिए उत्तरदायी ठहरा कर कैफियत मांगी जा सकती है। इन उपन्यासों में पात्रों को साफ-साफ तीन कोटियों में रखा गया है। आदिवासी 'बेचारे' हैं - शोषित और उत्पीड़ित- लेखकीय सहानुभूति के पात्र! नैरेटर मसीहा है जो अपने आदर्शवाद, सिद्धांतवादिता और 'अव्यावहारिकता' के चलते सभ्य समाज की आंख का कांटा है। लेखक की सारी शुभेच्छाएं और संवेदनाएं इसके साथ हैं क्योंकि वह लेखक के अहं का ही विस्तार है। तीसरी कोटि में आते हैं आदिवासी क्षेत्रों के गैर आदिवासी महाजन-भूमिपति और सभ्य समाज के राजनेता, ब्यूरोक्रेट, पूंजीपति। अपना हित साधते हुए ये मिल कर एक हो जाते हैं और व्यवस्था का क्रूर निर्वैयक्तिक चेहरा बन जाते हैं जो सर्वत्रा उपस्थित है लेकिन अदृश्य है; जिसके खिलाफ लड़ना है लेकिन वार कहां किया जाए, यही पता नहीं। प्रतिभा राय इस तीसरे वर्ग का अमूर्तन करते हुए पल्ला नहीं झाड़तीं, बल्कि इनके षड्यंत्रों-प्रलोभनों-स्वार्थों और भयभीत मानसिकता को मूर्त संदर्भ और ठोस पहचान देकर समाज और परिवेश के भीतर एक ईकाई के रूप में उभारती हैं जहां उन्हें सीतानाथ, विजय, शिव, सेवकदास और पाटराजा आदि के रूप में पहचाना जा सकता है। यही नहीं, उनके आईने में अपने मन के भीतर पलती उन-सरीखी प्रवृत्तियों को देख कर अपने को नए सिरे से पहचानने का बोध भी वे देती हैं और इस नई पहचान पर शर्मसार होने की संवेदना भी। क्या हमारी अपनी शुतुरमुर्गी चालाकियां ही व्यवस्था को ताकतवर नहीं बनाती हैं? आदिवासी भी प्रतिभा राय के लिए 'बेचारे' नहीं। विकास की एजेंसियां यदि अपरूप विकास लेकर

आदिवासी क्षेत्रों में पहुंच रही हैं तो स्वयं आदिवासी भी अपनी निष्क्रियता, वैचारिक जड़ता, हठधर्मिता और पिछड़ेपन के कारण विकास को सही संदर्भों में ग्रहण नहीं कर रहे हैं, न बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने की मानसिक तैयारी। हर विकास जीवन-शैली के पुराने तरीके में परिवर्तन की मांग करता है। दुर्भाग्यवश हिंदी साहित्य में आदिवासी समाज की कथा कहते हुए विकास की अवधारणा को ही खलनायक बना कर प्रस्तुत किया जाता है कि जंगल से अस्तित्व रक्षण के स्रोत पाने वाले आदिवासी जंगलों का सफाया होने पर अब कैसे जीएं? (मॉरल आव द स्टोरी यह कि जंगल काटे जाने के कारण दोषी सरकार है। अब सरकार से कौन लड़े? यहां ठेकेदार, पुलिसकर्मी, वन अधिकारी के रूप में अपनी या अपने इष्ट मित्रों की नकारात्मक भूमिका पर नजर डालने का चलन नहीं है। अपने गिरेबान में झांकने से बेहतर है दूसरों के सिर दोष का ठीकरा फोड़ कर सुखरू हो रहना); कि विकास के नाम पर आदिवासियों में पिज्जा, बर्गर, कोकाकोला, मोबाइल, नाइलोन की साड़ियों के लिए ललकती लालसाएं पैदा हो रही हैं। अतः बाजार के इन सारे नकारात्मक प्रभावों से बचा कर इन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत से जोड़े रखना होगा। (सभ्य समाज की कैसी कुत्सित अहम्मन्य मुद्रा मानो बाजार के स्वखलों से मुक्त वह स्वयं 'परिपूर्ण' (perfect) मनुष्य समाज की रचना में संलिप्त है।) इसी अहम्मन्यता के कारण जहां हिंदी उपन्यास आदिवासियों की रक्षा और उद्बोधन के लिए दिक् मसीहा की परिकल्पना करते हैं, वहीं प्रतिभा राय और महाश्वेता देवी लड़ाई की जरूरत को समझने और उसे सही अंजाम देने का बोध उसी मिट्टी के रणबांकुरों को देती हैं। जाहिर है तब वे 'प्रदर्शनी की वस्तु' नहीं रहते, व्यवस्था के लिए 'सिरदर्द' बन जाते हैं। विशेषकर 'अग्निगर्भ' (महाश्वेता देवी) उपन्यास का संथाल बसाई टूडू। पुलिस के पास न उसका सही हुलिया है, न मरने की पक्की खबर। लेकिन बरस में छः लाख रुपए ऑपरेशन बसाई टूडू पर खर्च होते हैं। हर बार एनकाउंटर में बसाई टूडू को 'मार' कर विजय भाव से पुलिस इस 'नक्सली' की फाइल बंद करने की घोषणा करती है, लेकिन हर बार कुछ अरसे बाद किसी नए क्षेत्र में पकते असंतोष और बढ़ते दमन का अंत करने के लिए बसाई 'जी' उठता है। एक-दो बार नहीं, पांच-पांच बार। और कौन जाने छठी-सातवीं-आठवीं बार भी जीवित हो जाए। हैरतअंगेज बात यह है कि इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में रचे गए आदिवासी केन्द्रित हिंदी उपन्यासों की तुलना में यह उपन्यास पुराना है जो 1979 में अनूदित होकर पहली बार हिंदी पाठकों के सामने आया। सत्तर के दशक के खेत मजदूरों के न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी विविध सरकारी कानूनों, क्षेत्र के जमींदारों द्वारा उनकी निरंतर अनदेखी, खेत मजदूरों में बढ़ता असंतोष, वामपंथी पार्टियों के निहित स्वार्थों को

नजदीक से देखने के बाद बसाई टूडू जैसे 'चेतन' युवकों का मोहभंग¹¹, नक्सलवाड़ी आंदोलन की रणनीतियों और कार्यशैली की बारीक जांच और फिर अपनी जरूरतों के हिसाब से सर्वथा नए भूमिगत आंदोलन की तैयारी¹² - 'अग्निगर्भ' उपन्यास आदिवासियों-संथालों-को जाहिल बना कर प्रस्तुत नहीं करता, उनकी मानवीय आकांक्षाओं और असंतोष को संघर्ष की ऊर्ध्वगामी चेतना देता है। उपन्यास में उनकी वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान, उत्सव-पर्व नहीं हैं। न ही उनकी बहादुरी का अनावश्यक महिमामंडन और न ही करुणा उपजाने की लिजलिजी कोशिश में अभावग्रस्त जीवन का करुण चित्रण। इसके विपरीत यहां रची-बसी है मिट्टी के अंदर दूर तक धंसी जिजीविषा, संघर्ष चेतना और अपनी अस्मिता बचाने की ललक। क्या यही ललक किसी भी वंचित हाशियाकृत समाज का असली परिचय नहीं? क्या इसीलिए बिरसा मुंडा की तरह बसाई टूडू सभ्य समाज के लिए खौफ और आतंक का पर्याय नहीं बन गया है? बसाई टूडू या द्रौपदी मांझी जैसा एक भी ऊर्जस्वी चरित्र हिंदी के इन चारों उपन्यासों में नहीं। दरअसल वहां चरित्र हैं ही नहीं। हैं तो बेचारगियां, बेबसियां, अभाव या निष्क्रियता। हताशा और अवसाद का एक झुंड जो जिवह होने के लिए तैयार है। यदि अपने हक की लड़ाइयां हैं भी तो बेहद नकली और आरोपित - एक आवेगहीन निष्प्रभ ऊर्जा के साथ लड़ी जाने वाली। 'ग्लोबल गांव के देवता' में इसे साफ तौर पर देखा जा सकता है।

जाहिर है 'अग्निगर्भ' उपन्यास का पाठ सहानुभूति और विवशता के अपाहिज भाव के साथ समाप्त नहीं होता, शत्रु को पहचानने और अपनी प्रतिरोधक ताकतों को संगठित करने की तमीज देता है। किसे सह्य होगा कि 'लंगोटी पहने, चूहे-मकड़ी खाने वाले समाज का संथाल' तीखे स्वर में शिकायत करे- 'तुम लोग पियाला में चा पीते, मैं मिट्टी के कुल्हड़ में?' (अग्निगर्भ, पृ0 34) बसाई टूडू की उंगलियां कम्युनिस्ट पार्टी की ओर उठें या पूंजीपति किसानों की ओर-कठघरे में तो बहुसंख्यक सभ्य समाज ही खड़ा होगा न! तिस पर तुरा यह कि ताल ठोक कर बसाई टूडू अपनी संथाल पहचान को जिलाए रखना चाहता है और हर संथाल को बसाई टूडू के कड़क तेवर और असहनशीलता दे रहा है। 'क्यों भूलूं? सांतालों को भूल जाऊं कि वे सांताल हैं? यह तुम लोग कैसे कर सकोगे? आज भी देश नहीं चीन्हेते, मानुस नहीं चीन्हेते हो। ऐसा देश गढ़ दो जिसमें सांताल-काउरा में, ऊंचे घर के कामरेटों में अंतर न रहे। कर सकते हो? सभी पलेन पकड़ कर दिल्ली-सोवियत-अमरीका घूमना चाहते हैं। गाड़ी चढ़ना, लाइलन पहनना। कर सकोगे? सबके कमर में लंगोटी, सूर्य साउ की लात खाना, पके धान को दूसरे काटते हैं, देख कर छाती फटती है, कर सकते हो? कुछ करो, तभी सांताल भूलेगा कि वह सांताल है।' (पृ0 35) न, मुट्टी

भर धान और अंजुरी भर पानी लेकर संतुष्ट नहीं होगा बसाई। अभाव को भूख से सान कर पेट भरने का नाटक नहीं करेगा वह। उन्हें भी सुविधाएं चाहिए और ताकत भी, इंसानी पहचान और नागरिक सम्मान भी। ठीक कहता है काली सांतरा कि बसाई की बात को बसाई-सी नहीं समझ सकता गैर आदिवासी क्योंकि आदिवासी जिस वंचना को लेकर जन्म लेता है, उसका सहभागी कोई ऊंची जाति का हिंदू नहीं हो सकता। लेकिन साथ ही सशक्त भी है कि एक-एक कर दमनकारी ताकतों - जमींदारों और महाजनों का सफाया कर देने से क्या सबल मनुष्य के अंतर्मन से दमन की सामंती मानसिकता को निकाला जा सकता है? लूटपाट और हत्या का यह रक्तरंजित मार्ग क्या मुक्ति की किसी समन्वयात्मक मंजिल को पा सकेगा? काली सांतरा की जुबानी महाश्वेता देवी सवाल नहीं करतीं, मुख्यधारा के संवेदनशील बुद्धिजीवियों से सवाल के पीछे छिपी ध्वनियों और समाधानों को गुनने की सलाह देती हैं। व्यवस्था लोहे का ठस शिकंजा नहीं। बुद्धिजीवियों और क्रांतिकारियों, समाजसुधारकों और स्वप्नद्रष्टाओं की पहल पर वह रूप बदलते रहने को बाध्य होती है। तो क्या व्यवस्था की जड़ता नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम बुद्धिजीवी वर्ग की जड़ता का प्रतिबिंब नहीं? बसाई टूटू-आदिवासी-व्यवस्था के उत्पीड़न से ज्यादा मुख्यधारा की उपेक्षा और दोगलेपन का शिकार है। तमाम संवेदना के बावजूद मुख्यधारा आदिवासी समाज को दया से उत्पन्न हिकारत ही तो देती रही है।

महाश्वेता देवी इस पाखंड को खूब समझती हैं। अपना उल्लू सीधा करती स्वार्थपरता आदिवासियों को नुमाइश की चीज बना देती है। पहले बेहद सावधान कूटनीतिक रवैए के साथ आदिवासियों का क्रमिक 'संहार' और फिर उनके विलुप्त हो जाने पर छाती कूट स्यापा - व्यंग्य में अवसाद और आक्रोश दोनों को घुला-मिला कर महाश्वेता देवी फिर से आत्ममंथन के लिए एक काल्पनिक चित्र हमारे सामने प्रस्तुत कर देती हैं - 'बसाई की हालत क्या अमरीका के आदिवासी अधिवासी नवाजो या दूसरे रेड इंडियनों की तरह होगी? कंजर्व : संरक्षण! म्यूजियम! आओ! देखो! संरक्षित बस्तियों में ये मुंडा हैं, ये संधाल हैं, ये मरिया हैं।' (पृ0 124) नहीं, काल्पनिक चित्र नहीं है यह। इसी का सादृश्य प्रस्तुत करते हुए देशी-विदेशी सैलानियों को लुभाने के लिए जिस जतन से जयपुर में चोखी ढाणी बसा कर राजस्थानी लोक जीवन को कृत्रिम तरीके से वहां 'इम्लांट' किया गया है, वह उतनी ही तेजी से यथार्थ जीवन में उसके अप्रासंगिक और लुप्त होते चले जाने की त्रासदी को व्यक्त करता है।

महाश्वेता देवी का मिशन राकेश कुमार सिंह तक आते-आते रोमान में तब्दील हो जाता है। स्कूल अध्यापक संजीव के साथ वे झारखंड के सुदूर आदिवासी गांव गजलीटोरी में प्रवेश करते हैं और

एक कौतुक भरे सम्मोहन के साथ उनके महिमामंडन¹³ और अभावग्रस्त जीवन¹⁴ का बखान करते हैं। दोनों ही स्थितियों में आउटसाइडर की हैसियत बनाए रख कर वे उनसे यथोचित दूरी पर खड़े हैं। विडंबना यह है कि स्वयं अपने आभिजात्य से उपजे अभिमान को 'देख' नहीं पाते और आदिवासियों को प्रदर्शन की वस्तु बनाने के लिए दूसरों को गरियाने लगते हैं। यह द्वैत भाव इतना सघन और आंतरिक (**internalised**) है कि इसे अपने भीतर पाना एकबारगी व्यक्ति को तिलमिला देता है, ठीक उसी तरह जैसे स्त्री विमर्श को बौद्धिक/शाब्दिक सहानुभूति देते हुए भी अमूमन हर उदारवादी पुरुष को व्यावहारिक जीवन में समकक्षता पर आमादा हर स्त्री असह्य हो उठती है। प्रतिभा राय भी आदिवासियों की नुमाइश को लेकर बेतरह क्षुब्ध हैं, लेकिन वे एक स्टेटमेंट के तौर पर अपने आक्रोश को व्यक्त नहीं करतीं, बल्कि पात्रों को इस अपमानजनक परेड के खिलाफ पहल करने को तैयार करती हैं। वे स्थितियों का अंतर्विरोध (पैराडॉक्स) दिखातीं हैं कि विकास परियोजनाओं ने जहां सदा की केशलुण्ठित रिंगाधारी नग्नप्राय स्त्री को केशवती साड़ीधारी स्त्री के रूप में प्रस्तुत कर बौडनी को 'सभ्य करने के दावे पेश किए, वहीं टूरिस्टों-अतिथियों के सामने, राष्ट्रीय पर्वों और कैलेण्डरों में सजने वाली तस्वीरों में उन्हें अपने उसी आदिम रूप में प्रस्तुत होना होता है। स्कूली शिक्षा लेकर अर्धविकसित समझ के साथ अपनी नियति पर विचारते नई पीढ़ी के बौडा युवक के मन में रोष और प्रतिरोध पैदा करती हैं कि 'आदिमानव के वंशधरों की खाली देह, खाली पेट का प्रदर्शन कर बाबुओं के मन में करुणा उपजाने का' कार्य क्यों करते रहें वे? यह स्थिति उन्हें अभिज्ञान देती है कि युगों से आदिवासी जाति 'अनार्य सूची में रह कर उन्नति की नीची सीढ़ी पर खड़ी है।' (आदिभूमि, पृ0 399) वह जान गया है कि उनकी जरूरतों के हिसाब से नहीं, बल्कि व्यवस्थापकों की सनक (**whims**) और अनुमान के आधार पर आदिवासी विकास योजनाएं चल रही हैं। वे चाहते हैं स्कूल, लेकिन उन्हें मिलते हैं बिजली के खंभे (जिनमें बिजली का करंट नहीं है) और नलकूप (जिनमें पानी नहीं); वे चाहते हैं नौकरी या काम पाने की पक्की व्यवस्था, लेकिन मिलती हैं पक्की सड़कें (जो उनके लिए नहीं, मंत्रियों और सरकारी अधिकारियों के लिए हैं ताकि जीप में बैठ कर दौरे की सुविधा प्राप्त कर सकें); वे चाहते हैं रिंगा बुनने में दक्ष बौडनियों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति जिससे वे दरी-बिछावन, सतरंती-कार्पेट बुन सकें और जब कोई विकास प्रोजेक्ट बंद हो तो 'बेकार' न हो सकें, लेकिन इसके बदले उन्हें जबरन दी जाती है साइकिल फूल या अंगिया बनाने की तालीम जिनके उपयोग को लेकर उन्हीं की तरह अनजान है सरकार भी।

‘प्रशासन मां बन कर भुलावे में रखता है और बाप बन कर डंडा मारता है’¹⁵

प्रतिभा राय की खासियत है कि वे महाश्वेता देवी की तरह आदिवासियों की कथा कहते हुए अपने दिक्कू (संभ्रांत) चरित्र का विलयन कर लेती हैं, लेकिन साथ ही महाश्वेता देवी से भिन्न आदमखोर व्यवस्था के खिलाफ किसी एक पात्र को महानायक बना कर नहीं टकरातीं, बल्कि पूरी नई पीढ़ी को इस साझी लड़ाई के लिए मानसिक और वैचारिक तौर पर तैयार करती हैं। वे इस बुनियादी समझ को युवा पीढ़ी के मन-मस्तिष्क में रोपती हैं कि पिज्जा-बर्गर, कोकाकोला-मोबाइल विकास के उपकरण नहीं, भौतिक सुविधाएं और प्रलोभन हैं। विकास है चेतना का उन्मेष, नई स्थितियों में परंपराओं की शिनाख्त, शिक्षा का आलोक और अपनी संकुचित चौहदियों के पार वृहत्तर समाज-मुख्यधारा-से जुड़ने का प्रयास। यह प्रयास एकबारगी बेहद कठिन है, चुनौतीपूर्ण भी, लेकिन संवाद और आदान-प्रदान के बिना दूरियों को तय करना संभव भी नहीं। जाहिर है प्रतिभा राय का बल संवाद के रास्ते विकास योजनाओं को स्थिति, अवसर और समय के अनुकूल बना कर क्रियान्वित करना है, जबकि रणेन्द्र का सारा आक्रोश विकास योजनाओं के खिलाफ है।

रणेन्द्र महाश्वेता देवी की तरह इन विकास योजनाओं के मूल सकारात्मक चरित्र को पहचान कर इनके क्रियान्वयन में प्रशासन की नकारात्मक भूमिका को चिन्हित नहीं करते, बल्कि सब धान बाईस पसेरी की नीति पर अमल करते हुए सरकारी नीतियों, प्रशासन, पूंजीपति ताकतों और धर्म का व्यवसाय करते पाखंडियों को ग्लोबल संस्कृति का प्रतिनिधि मान आदिवासियों की रक्षा हेतु चिंतित और सन्नद्ध हो जाते हैं। हालांकि इससे पहले वे गहन अध्ययन के बाद श्रमपूर्वक इतिहास को खंगालते हुए असुर जाति के शौर्य और पराभव की कथा कहते हैं - प्रच्छन्न भाव से महिमामंडन की मुद्रा में कि ऋग्वेद के प्रारंभिक डेढ़ सौ श्लोकों में असुर देवता के रूप में वर्णित हैं। पहले मित्रा, वरुण, अग्नि, रुद्र असुर रूप में सम्बोधित थे, लेकिन बाद में किन्हीं दुरभिसंधियों के तहत इन पर ‘दानव’ अर्थ का प्रक्षेपण कर दिया गया; कि ‘अपने देवता सिंगबोंगा की तरह असुर आदिम जाति भी कभी थकती नहीं। आग से उत्पन्न, कभी लोहा पिघलाने और पिघला लोहा खाने वाले वे लोग खुद भी लोहा थे।’ (ग्लोबल गांव के देवता, पृ0 28) महिमामंडन के साथ ही गुंथी है अवसाद की काली छाया - ‘मगध का प्रतापी राजा जरासंध संभवतः असुर कुल का सबसे विख्यात सम्राट हुआ, राजगृह जिसकी राजधानी हुआ करती थी। नवादा के सिधौल गांव से होकर राजगीर जाने वाली बहुत पुरानी किंतु आज भी बेहतरीन

सड़क असुरिन ही कहलाती है। यानी कि हजारों-हजार साल से पीछे हटते-हटते इस पाट पर। धरती का आखिरी छोर। अब यहां से कहां? नष्ट करने प्रक्रिया तो आज भी जारी है। जमीन और बेटियां चुप-चुप, शांत-शांत, किंतु रोज छीनी जा रहीं। (पृ0 34) रणेन्द्र के पास जानकारियों का विपुल भंडार है। वे सौ पृष्ठों में फैले उपन्यास के संक्षिप्त कलेवर में विलुप्त जनजातियों का वृत्तांत टूस देना चाहते हैं। एकमात्र असुर जनजाति के दमन की कथा ही नहीं, बल्कि विश्व स्तर पर विलुप्त कर दी गई इंका, अजटक, माया सभ्यताओं के दमन की कथा भी। इसलिए कथा के प्रवाह को अवरुद्ध करते हुए अमरीकी महाद्वीप में सोने की खदानों पर कब्जा करने के लोभ में मूल निवासियों को समाप्त करती यूरोप की साम्राज्यवादी नीतियों-अधिनियमों और दमन चक्रों का उल्लेख है, 1835-1840 के बीच सेमिनोल जनजाति को उजाड़ने में चार से छः करोड़ डॉलर खर्च किए जाने का वृत्तांत है जिसकी परिणति ‘ट्रेल ऑव टियर्स’ में हुई और है मैसाच्यूट्स के राजा मैटाकोम को छल से बर्बरतापूर्वक मार दिए जाने की नृशंसता। इतना ही नहीं, रणेन्द्र असुर जनजाति के साथ अमरीका की इन विलुप्त जनजातियों का साम्य बैठाते हुए जब ललिता की तुलना राजकुमारी पोकाहांस से करते हैं या इम्फाल की इरोम शर्मिला, केरल की सी. के. जानू और कोंकण की सुरेखा दलवी से, तब कथा की गंभीरता और अन्विति से छिटक कर दूर जा पड़ते हैं। दरअसल ‘ग्लोबल गांव के देवता’ उपन्यास की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह किसी एक बिंदु पर स्वयं को केन्द्रित नहीं कर पाता। सब कुछ एक साथ मुट्टी में भींच लेने की व्यग्रता में सब कुछ रेत की तरह मुट्टी से फिसलता चलता है। इस संदर्भ में भेड़िया अभयारण्य बनाने के लिए सैंतीस गांवों के आदिवासियों को ‘उजाड़ने’ की सरकारी नीति, वन विभाग के अधिकारियों द्वारा सरकारी रिकार्ड में इन सैंतीस गांवों को निर्जन दिखाना, वेदांग नामक बहुराष्ट्रीय कंपनी को अभयारण्य के लिए अधिग्रहीत जमीन पर तारबंदी का ठेका देकर राजनीतिक गोटियों का खेल खेला जाना प्रसंगों को सहज ही देखा जा सकता है जो सरलीकृत फार्मूलों की तरह कथा की सतह पर आकर फैल जाते हैं, कथा को घनत्व और गहनता नहीं देते। कथाकार की अधीर वृत्ति किसी एक घटना, पात्र या स्थिति पर नहीं टिकती। युनिवर्सिटी की शिक्षा पूरी कर ‘घर’ लौटी ललिता को लेकर रणेन्द्र पहले-पहल बेहद उत्साहित हैं। भौरापाट के सरकारी स्कूल में जाकर अध्यापकों की कमी पूरी करने के लिए प्रत्येक साक्षर कर्मचारी को बच्चियों को पढ़ाने की प्रेरणा देना और घर-घर जाकर आदिवासी लड़कियों को स्कूल भेजने का अनुरोध करना ललिता के प्रति पाठकीय अपेक्षाओं को बढ़ा देता है। ललिता इन अपेक्षाओं को पूरा भी करती है। वह यौन शोषण की शिकार लालचन की दोनों बेटियों के जरिए न

केवल बाबा शिवदास के आश्रम में चलते सेक्स रैकेट का भंडाफोड़ करती है, बल्कि बेहद तिक्ततापूर्वक आदिवासियों की आंख में उंगली डाल उन्हें उनकी 'सफल' हड़ताल की 'सफलता' की व्यर्थता समझाती है - 'क्या तो आंदोलन हुआ। जेल भी गए। समझौता हुआ। कहां हैं समझौते की शर्तें? कहां हैं हमारे आज के हत्यारे?... कहां खदान के गड्ढे भरे जा रहे हैं?... है कहीं हॉस्पिटल खुलने की सुगबुगाहट?... आज भी रोज ठग-ठेकेदार, दलाल असुर-उरांवों से सादा कागज पर ठेप्पा लगा-लगा अवैध खनन कर रहे हैं। लड़कियों का दिल्ली-कलकत्ता जाना, मेट-मुंशी के डेरा जाना छूटा नहीं, बल्कि बढ़ ही गया है। क्या हुआ फायदा जेल जाने का? (पृ0 72) लेकिन इसके बाद जैसे वह निस्तेज होना शुरू हो जाती है। शायद इसलिए कि उसे क्रांति की अग्रदूती बनाने का निर्णय लेकर स्वयं लेखक भी आश्वस्त नहीं। उन्हें ललिता में नायकोचित दूरदर्शिता, नेतृत्व क्षमता, राजनीतिक समझ, वैचारिक परिपक्वता और अंतःशक्ति का अभाव दीख पड़ता है जिसकी पुष्टि पुलिस षड्यंत्र का शिकार होकर सामाजिक बहिष्कार की यंत्रणा झेलते लालचन के प्रति ललिता के तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से होती है। कहना न होगा कि रणेन्द्र यथार्थ से मुठभेड़ करने के लिए स्थितियों, परिघटनाओं और चरित्रों के आपसी सम्बन्धों की जटिलताओं को समझने की कोशिश नहीं करते, वरन् उन पर उड़ती नजर डाल कर उन्हें अच्छा-बुरा, स्याह-सफेद जैसी स्थूल कोटियों में विभाजित करते चलते हैं। इसलिए असुर जनजाति के क्रमिक विघटन के लिए वे उत्तरोत्तर हावी होती बाजार की शक्तियों को गरियाते हैं - 'इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदाल, खुरपी, गैंता, खंती सुदूर हाटों तक पहुंच गए। हमारे गलाए लोहे के औजारों की पूछ खत्म हो गई। लोहा गलाने का हजारों-हजार साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया।' (पृ0 83) लेकिन ललिता और राजकुमारी पोकाहांतस में साम्य देखती अपनी औपन्यासिक वृत्ति से सवाल नहीं पूछते कि ग्लोबल बाजार के प्रसार से पूर्व पौराणिक-ऐतिहासिक काल में असुरों के पराभव के लिए आखिरकार कौन जिम्मेवार था? रणेन्द्र में इतिहास का विश्लेषण करने की क्षमता है जिस कारण वे एक जनजाति पर 'दानव' (अ+सुर) जैसी नकारात्मक पहचान को चस्पां कर देने के षड्यंत्रों की शिनाख्त कर सके हैं - 'सुर में सु शामिल है जिसका अर्थ उत्पादन होता है। इसीलिए क्या जंगलों को काट कर उत्पादन यानी खेती करने वालों और सखुआ पेड़ के कोयले पर आश्रित लोहा पिघलाने वालों के बीच की लड़ाई है?' (पृ0 18) लेकिन वर्तमान संदर्भ में उसकी पराजय के लिए स्वयं उसकी अपनी भूमिका को नहीं चीन्ह पाते। व्यवस्था को कठघरे में खड़ा कर वे आसानी से रुमझुम, सुनील,

ललिता और लालचन आदि को क्लीन चिट दे देते हैं जबकि प्रतिकूल परिस्थितियों का दूने जोश से मुकाबला करने की बजाय दफ्तर के सवर्ण सहकर्मियों की उपेक्षा का शिकार होकर रुमझुम दिन-रात शराब के नशे में धुत्त रहने लगा है और दिल्ली में रह कर एम.ए. की पढ़ाई करता सुनील कभी पलट कर अपने क्षेत्र में आया ही नहीं। अलबत्ता संघर्ष आंदोलन के असफल हो जाने और ललिता आदि सक्रिय नेताओं को साजिश के तहत बम विस्फोट में उड़ा दिए जाने की खबर पाकर भविष्य की आशा के रूप में सुनील की वापसी आरोपित और अस्वाभाविक लगती है। रणेन्द्र कोयलबीघा इलाके के डॉन गोनू सिंह के उत्पीड़न के खिलाफ कनारी नवयुवक संघ के साथ लालचन आदि के संयुक्त मोर्चे की परिकल्पना अवश्य करते हैं, किंतु जिस तरह कनारी नवयुवक संघ के जेम्स जैसे सक्रिय नेता मुंह छुपा कर और दुम दबा कर भाग निकलते हैं या बाइक, ट्रक, पेट्री कंट्रेक्टर का प्रलोभन पाकर तलुवे चाटने लगते हैं, उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि बेहतरी की ठोस परिकल्पना और मिशन के बगैर अस्मिता की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

लेकिन फिर भी, यदि उपन्यास की कथा संरचना और प्रभावान्विति को दरकिनारा कर असुर जाति के अस्तित्व संघर्ष पर रणेन्द्र के विचारगुम्फित भावोच्छ्वास पर विचार किया जाए तो यह एक महत्वपूर्ण रचना साबित होती है। साम्राज्यवादी ताकतों के मनोविज्ञान और कार्यशैली की बारीक समझ उन्हें वर्चस्ववादी संरचनाओं के प्रति अनास्थावान बनाती है - 'युद्ध में विजय उसे मिलती है जो ज्यादा हिंसक, ज्यादा बर्बर और ज्यादा कुशल प्रशिक्षित हत्यारा होता है... युद्ध में विजय सत्य और न्याय की नहीं हुआ करती, जैसा कि किस्सों-कहानियों में हमें बताया जाता है। वे तो विजयी जाति के चारण-भाट, कवि-कथाकार पौराणिक होते हैं जो सत्य और न्याय के किस्से गढ़ते हैं और हम आंख मूंद कर जिन पर विश्वास करते हैं। उनकी लेखनी की ताकत यह प्रमाणित करने में खर्च होती है कि पराजित नस्ल कितनी बेईमान, अन्यायी, अनाचारी थी। यह सब केवल रक्त सनी भूमि, स्त्री, सवर्ण और सिंहासन से उपजे अपराध बोध को धोने का खोखला प्रयास भर होता है।' (पृ0 42) इसी विश्लेषण को आगे बढ़ा कर वे राष्ट्र-राज्य के मनुष्यविरोधी चरित्र को भी परिभाषित करने लगते हैं।¹⁶ लेकिन सुविधापूर्वक इस तथ्य को अनदेखा कर जाते हैं कि राष्ट्र-राज्य वर्चस्ववादी मनुष्यों की संगठित हिंसा और स्वार्थपरता का ही धिनौना चेहरा है। इसलिए नहीं देख पाते कि गोनू सिंह, कोयलाश्रम के बाबा शिवदास, किशन कन्हैया पाण्डेय के साथ-साथ रुमझुम, रामचन असुर और डॉक्टर रामकुमार सहित समूची असुर जनजाति भी बराबर की दोषी है जो कहीं अंधविश्वासों और वैचारिक जड़ता के कारण

प्रगतिविरोधी बन बैठती है तो कहीं शोषण और गरीबी से जूझने के लिए सामूहिक प्रयास करने की अपेक्षा अपने-अपने स्तर पर परिवार की लड़कियों की सौदेबाजी करने लगती है।

दरअसल व्यवस्था की बर्बरता बढ़ाने में आम आदमी की लाचार निरीहता को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। अपने नागरिक दायित्वों और अधिकारों को भूल कर चरवाहे द्वारा हांक दी गई भेड़-बकरियों की तरह जीना भारतीय लोकतंत्र के आम आदमी की विशेषता रही है। बेशक इसके मूल कारण हैं गरीबी और अशिक्षा जो प्रकारांतर से नागरिक चेतना और संगठन के भाव को कुतर डालते हैं। रणेन्द्र की विशेषता यह है कि वे मुख्यधारा की नजर से ओझल झारखंड के कोयलबीघा प्रखंड को दृश्यमान बना कर प्राकृतिक सम्पदा से धनी क्षेत्र के बरक्स इसके मूल आदिवासियों की दुर्दशा के प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। बॉक्साइट से धनी इस क्षेत्र में अनेक बड़ी-बड़ी कंपनियां हैं जो खदानों से बॉक्साइट निकालती हैं और अल्यूमिनियम में ढालने के लिए उसे डेढ़ सौ-दो सौ किलोमीटर दूर सिलवचर सिटी ऑव इंडिया भेजती हैं। चूंकि कंपनियों का मुख्य लक्ष्य अधिकाधिक लाभ कमाना है, इसलिए इस क्षेत्र में सड़क और परिवहन की सुविधाएं उन्होंने अपने हिसाब से तय की हैं। एग्रीमेंट से बंधी कंपनियों का नैतिक दायित्व है कि बॉक्साइट निकाल कर वे गड्डों को भरें ताकि बरसात में वहां पानी इकट्ठा न हो। लेकिन पिछले पच्चीस-तीस साल से नये गड्डे भरे जा रहे हैं, न इन गड्डों में पनपने वाले मच्छरों को मारने की तजवीज की जाती है। अलबत्ता साल दर साल सेरेब्रल मलेरिया की चपेट में आकर आदिवासी आबादी का एक बड़ा हिस्सा काल का ग्रास बन जाता है। शेष रहता है दबा-छुपा आक्रोश - 'हमें तो लगता है कि जानबूझ कर सरकार भी मटिया रही है। चाहती है, पाट पर आबादी जितनी जल्दी खत्म हो, बॉक्साइट निकालने में उतनी ही आसानी होगी।' (पृ0 14) यही नहीं, एग्रीमेंट में लाभ का एक बड़ा हिस्सा अंचल के विकास कार्यों पर खर्च करने का प्रावधान भी है ताकि यहां के आदिवासियों को पीने का पानी, सड़क- परिवहन, अस्पताल की सुविधा उपलब्ध कराई जा सके। लेकिन इन सब अर्हताओं को दरकिनार कर खदान मालिक लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैर मजरूआ जमीन, असुर रैयत की जमीन से ज्यादा खनन करते हैं। रणेन्द्र नहीं, राकेश कुमार सिंह इन्फ्रास्ट्रक्चर की दृष्टि से यहां की बदहाली की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं - 'झाड़-झंखाड़ से भरे इस भूखंड झारखंड में अधिकांश रेल-पथ या सड़कें आम जनता की सुविधा-असुविधा को ध्यान में रख कर बनी भी नहीं हैं। असल में यातायात के लिए ऐसी सड़कें निर्मित ही नहीं होतीं यदि झारखंड की जादुई जमीन के गर्भ में अकूत सम्पदा और जमीन के ऊपर धन ही धन न बिखरा होता - खनिज अयस्क, कोयला और

बेशकीमती वनोपज के रूप में। इस वन प्रांतर में रेल और सड़कें जंगल के मरणांतक दोहन के उन्हीं उद्देश्यों हेतु निर्मित हुई हैं जिन उद्देश्यों की बलि चढ़ते रहे हैं कई और अन्य वन।' (पठार पर कोहरा, पृ0 87) महाश्वेता देवी की तरह वे मानते हैं कि आजादी के बाद आदिवासियों के कल्याण की अनेक योजनाएं बनी हैं, पर उनके गलत क्रियान्वयन के कारण उन विकास परियोजनाओं के लिए आवंटित राशि का दस प्रतिशत भी आदिवासियों तक नहीं पहुंच रहा है। रणेन्द्र इन दोनों उपन्यासकारों की राय से इतिफाक नहीं रखते। पाथरघाट के जगत्प्रसिद्ध स्कूल के बरक्स भौरापाट के आदिवासी स्कूल (जिसे वे फुसलावन स्कूल कहते हैं) की तुलना करते हुए वे इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़ कर बनाए गए इस स्कूल में पिछले तीस वर्षों से एक भी आदिवासी परिवार के बच्चे का दाखिला यहां नहीं हुआ। आदिवासियों के लिए चलाए जाने वाले इस सुविधा सम्पन्न स्कूल में गैर आदिवासी बच्चे धड़ल्ले से पढ़ रहे हैं और रुमझुम जैसे आदिवासी यहां दाखिला न मिल पाने के अफसोस को अपने भीतर आक्रोश बना कर सुलगाए हुए हैं कि 'आखिर हमारी छाया से भी क्यों चिढ़ते हैं ये लोग?' ('ग्लोबल गांव के देवता', पृ0 19) फुसलावन स्कूल सरकार के बदनमा चेहरे को छुपाने के मुखौटे भर हैं। इन स्कूलों की मंशा आदिवासियों की शिक्षित कौम विकसित करना नहीं, खदानों और फैक्टरियों में विकास के पहिए को चलाए रखने के लिए स्क्वैड लेबर, चपरासी और क्लर्कों की फसल तैयार करना है। 'ग्लोबल गांव के देवता' की विशेषता यह है कि यहां यह सवाल एक गूंगी निरीहता के रूप में दम नहीं तोड़ता बल्कि चेतना की लौ बन कर संगठित संघर्ष का रूप लेने की कोशिश करता है। पूरे पाट की तीस-चालीस खदानों में काम रुकवा कर प्रशासन को अपनी बातें मनवाने के लिए राजी करना अपनी दशा में बदलाव लाने की सकारात्मक पहल है। उल्लेखनीय है कि संधि की शर्तों में व्यक्तिगत लाभ नहीं, पूरे अंचल के विकास की प्रतिबद्धता है। अलबत्ता विकास की कथा को सही परिप्रेक्ष्य में चित्रित किए जाने की जरूरत अब भी शेष रह जाती है क्योंकि कंपनियों की स्वार्थी नीतियों और भ्रष्टाचार से घबरा कर विकास की अवधारणा को ही प्रश्नांकित करना समस्या का समाधान नहीं, आदिम जड़ताओं की ओर पलायन है। ऐतिहासिक घटना-क्रम का हवाला देते हुए रणेन्द्र ने खेद भरे स्वर में टिप्पणी की है कि पीछे हटते-हटते धरती के आखिरी छोर पर आ गए असुर अब और कहां जाएं? दरअसल जवाब इसी लाचारगी में निहित है। पीछे हटना जिंदगी और संघर्ष से पीठ मोड़ कर हताशा, अवसाद और मृत्यु को गले लगाना है। और इतना तय है कि खुदकुशी के लिए आमामदा व्यक्ति को जीवन के राग-रंग बिल्कुल नहीं सुहाते। आरोपित अंत के

बावजूद रणेन्द्र जिस प्रकार उपन्यास को संघर्ष के बिंदु पर समाप्त करते हैं, वह अस्मिता संघर्ष की चेतना और हौसले को जिलाए रखने के लिए काफी है। समाजशास्त्रीय सरोकारों से बंधी रचनाएं कई बार संरचनागत परफेक्शन की बजाय अनेक चूकों और दुर्बलताओं के कारण भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं।

4

‘सगरे दुनिया से मिताई करे सो होमनिस’¹⁷

गौरतलब है कि यदि आदिवासीकेन्द्रित उपन्यासों के सांस्कृतिक परिदृश्य को नजरअंदाज कर दिया जाए तो उपन्यास भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाती अकुलाहटें बन जाते हैं। ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास मूलतः झारखंड के सुदूरवर्ती गजलीठोरी गांव के मुंडाओं की दुर्दशा, संघर्ष और चेतना की कथा कहता है, लेकिन अपने व्यावहारिक रूप में वह शासन तंत्र के भ्रष्टाचार को परत दर परत उघाड़ता है। भ्रष्टाचार का अर्थ ही है सृष्टि के नियामक सिद्धांत - सत्य-शिव-सुंदर-की हत्या कर अपने भीतर के असत् को सत् - वैध- बना कर प्रस्तुत करने की बेहयाई। यह दूसरों के मुंह से रोटी के साथ-साथ पैरों तले की जमीन और आंख में पलते सपनों को छीन लेने की आक्रामकता है। निर्बल की सवारी गांठ कर यह अधिक उन्नत, अभिजात और वर्चस्ववादी होने के अहंकार को भी पोसता है। इसलिए ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में गजलीठोरी गांव की दुर्दशा और शोषण की कथा कहने के हर प्रयास में राकेश कुमार सिंह अनिवार्यतः गजलीठोरी पर राज करती सामंती ताकतों - साहू, बेचू तिवारी और जंगल सेना सरीखे भूमिगत आंदोलन-का ही उल्लेख नहीं करते, केन्द्र और राज्य सरकार में बैठे भ्रष्ट अधिकारियों की भ्रष्ट कार्यशैली की खबर भी लेते हैं। कथाकार के रूप में राकेश कुमार सिंह की खासियत है कि वे इन दोनों कथा-विषयों की रंग-रेखाओं को अलग-अलग उकेरने के बावजूद उन्हें कथा के मजबूत ताने-बाने में एक संश्लिष्ट बुनाई के रूप में बुन देते हैं। ‘कमाई की उपज खा जाते हैं मुंडा’ - एक स्टेटमेंट की तरह अपने मूल वर्ण्य विषय का परिचय देते हैं राकेश कुमार सिंह और फिर इसी स्टेटमेंट के साथ वे समस्या के भीतर परत दर परत पैठ बनाते चलते हैं। गरीबी के कारण विकल्पहीन अवस्था में कमाई की उपज खा जाने वाले मुंडा गरीबी के दुष्चक्र में फंसते चलते हैं क्योंकि अगली बुआई के समय बटाई पर खेती करने के विकल्प के बावजूद बीज-खाद-बैल चाहिए और इन सबको जुटाने के लिए पैसा। पैसा उनके पास नहीं है। पैसा है बेचू तिवारी के पास या साहू के पास। उधार चुकाने के लिए अनाज के बदले अनाज देने का वादा करता है मुंडा, लेकिन महाजनों को चाहिए सूद समेत पैसा। पैसा नहीं तो बंधुआ मजदूरी - ता उम्र चलने वाली चाकरी नहीं, पुश्त दर पुश्त चलने वाली गुलामी। ‘आदिभूमि’ के

बौडा समाज की तरह मुंडा समाज भी नहीं जानता कि बंधुवा प्रथा कानूनन समाप्त हो चुकी है अब। (जान जाए तो भी ‘स्वतंत्र’ होने का क्या विकल्प है उसके पास? गाय-गोरू, खेत-पुत्र के बाद सलप का पेड़ और बेटी गिरवी रख कर भी ब्याज नहीं चुका पाता आदिम बौडा, तब स्वयं को गिरवी रख डोम (साहू) का बंधुवा बन जाता है। परम प्रसन्न! अगाध संतुष्ट! क्योंकि अब उसे पेट भरने की चिंता नहीं है। अपने खेत में काम कराने के लिए उसे ‘जिंदा’ रखना अब साहूकार की जिम्मेदारी है, उसकी नहीं।) बौडा की तरह मुंडा भी अज्ञानी है क्योंकि बाहरी संसार के साथ संपर्क नहीं। न ही शिक्षा के जरिए खुलने वाले वातायनों से बाहर झांकने की सुविधा। न, सरकार की ओर से उन्हें शिक्षित करने में कोई कोताही। सरकारी योजनाओं और रिकार्डों में आदिवासी क्षेत्रों में बाकायदा सरकारी स्कूल चल रहे हैं। प्रतिभा राय की मानें तो 1960 से कुल आठ स्कूल बौडा क्षेत्र में खुले हैं और इस प्रकार दो हजार बौडा जनसंख्या वाले क्षेत्र में कुल एक सौ तीस बौडा शिक्षित हैं। लेकिन असलियत... ? राकेश कुमार सिंह कथानायक संजीव के साथ बेहद उत्साहपूर्वक असलियत का खुलासा करते हैं कि सिर्फ कागजों पर चलते हैं स्कूल और कागज साहू की दुकान में धूल खाते माल-असबाब के नीचे; कि स्पीड परियोजना का पायलट प्रोजेक्ट है गजलीठोरी का प्राथमिक विद्यालय, लेकिन यहां न चॉक है, न रजिस्टर; न स्कूल की इमारत है, न अध्यापक। कागजों पर अलबत्ता आवासीय सुविधाओं तक का प्रावधान है। ‘सनकी’ संजीव को कथानायक बना कर राकेश कुमार सिंह को सारे रहस्योद्घाटन एक ही बार कर देने की स्वतंत्रता मिल गई है। वे दत्तचित्त होकर बता रहे हैं कि जिस विद्यालय के लिए हर महीने जिला कल्याण अधिकारी आवश्यक राशि आवंटित करते हैं, वह शिक्षकों, बेचू तिवारी और जंगल सेना की जेबों में जाती है; कि हर माह की आवंटित राशि का पंद्रह प्रतिशत कमीशन के रूप में जिला कल्याण अधिकारी को बतौर इनाम भेंट किया जाता है। संजीव से पहले गजलीठोरी प्राथमिक विद्यालय में नियुक्त अध्यापक गांव आने की अपेक्षा आराम से नीचे तुपकाडीह मुख्यालय में रहते रहे हैं और वहीं से हाजिरी का रजिस्टर ‘अप टू डेट’ रख कर स्कूल के विकास और विद्यार्थियों की सुविधा के लिए नियमित खर्च करते रहे हैं, जैसे विद्यालय की मुरम्मत (याद रहे कि विद्यालय के लिए नियत कोई इमारत नहीं है गजलीठोरी में) के लिए गत सप्ताह पांच हजार रुपए खर्च किए गए, स्कूल की साफ-सफाई और विद्यार्थियों को पानी पिलाने के लिए भी आवश्यक खर्च किए गए। यह भ्रष्ट आचरण सिर्फ स्कूल अध्यापकों या शिक्षा विभाग के कर्मचारियों का ही नहीं, पूरी ब्यूरोक्रेसी का है जिसकी एक शाखा जनगणना विभाग तक जाती है¹⁸ तो दूसरी शाखा योजना आयोग तक जो इन आंकड़ों के आधार पर कल्याणकारी योजनाएं बना

कर अनुदान राशि का आवंटन करता है और 'वनवासी सेवा केन्द्र' और 'इंडियन नेशनल ट्रस्ट फॉर द वेलफेयर ऑफ ट्राइबल्स' जैसी संस्थाओं का गठन करता है। उल्लेखनीय है कि आदिवासियों के हितों के प्रति पूर्ण समर्पण का दावा करने वाली इन संस्थाओं को गजलीटोरी का नाम तक ज्ञात नहीं। फिर वहां स्कूल के नाम पर आंखों में धूल झोंकने वाले कारोबार का संज्ञान क्योंकर हो? 'यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अपढ़, असंस्कृत, नंगा, शोषित, उपेक्षित और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा-कटा रहेगा' (पृ0 138) - लेखक की चिंता जायज है।

राकेश कुमार सिंह की विशेषता है कि वे कथा को दो स्तरों पर चलाते हैं। एक स्तर पर है शोषक और शोषित के अंतर्सम्बन्धों पर बुनी सामान्य शोषण कथा; और दूसरे स्तर पर है प्रशस्तिगान परंपरा में अवस्थित होकर कथानायक को 'चरितनायक' बनाने की तैयारियां जहां उसके चरित्र को औदात्य देते हुए मसीहा का रूप दे दिया जाता है। लेकिन इस चरितनायक के लिए वे बसाई टूडू (अग्निगर्भ) या सोमारा (आदिभूमि) जैसे स्थानीय शोषित आदिवासियों को नहीं चुनते, 'बाहरी' व्यक्ति को अलौकिक ताकत के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं जहां उसके प्रारंभिक विरोध के बाद क्रमिक स्वीकृति और समर्पण के सरलीकृत नुस्खे हैं। 'नयका मास्टर (संजीव) से सावधान। होशियार। समझ लो, खूनी बाघ है' (पृ0 19) से लेकर 'संजीव तो उस परंपरा के प्राणी थे जो लड़ लिए मुसीबतों का पीछा करते हैं' (पृ0 55) तक चरितनायक संजीव की उदात्त संघर्ष-यात्रा को दिखा कर उनका आभास डल तैयार करने की जुगतें की जाती हैं जिसकी परिणति आश्वस्त के दीर्घ निःश्वास (क्या यही ताजपोशी की कोशिश भी नहीं?) में है कि 'संजीव को लगता है, कल वे रहें न रहें, तबादला ही हो जाए और गजलीटोरी छोड़ कर जाना ही पड़े तो शिक्षा के प्रति जागरूक हो चुके मुंडा नए शिक्षक को भी विवश कर देंगे कि वे विद्यालय को सुचारु रूप से चलाएं।' (पृ0 226) इस पूरी प्रक्रिया में चरितनायक संजीव जिस प्रकार गांव-बहिष्कृत रंगेनी और उसके पुत्र सोनारा की मदद से बांस डाल कर स्कूल की 'इमारत' खड़ी करते हैं, आदिवासियों को बेचू तिवारी और साहू के चंगुल से मुक्त कराने के लिए कोऑपरेटिव सोसायटी खोलते हैं और हरमू मुंडा को एक हजार रुपए का कर्ज दिला कर गांव में एक और किराने की दुकान खोलने को प्रेरित करते हैं; स्पीड परियोजना के अधिकारियों को विवश करते हैं कि गजलीटोरी पायलट प्रोजेक्ट की अनियमितताओं की जांच हेतु जांच समिति का गठन करे, उससे लगता है कि गजलीटोरी में रामराज्य की वापसी बस, होने ही वाली है। चरितनायक संजीव यानी जादू की छड़ी! बेशक राकेश कुमार

सिंह पर कथाकार संजीव का जादू सिर चढ़ कर बोल रहा है। दोनों के व्यवस्था के खिलाफ वही कड़क तेवर, अपनी उपस्थिति को किसी नैरेटर में कैमाफ्लाज करने की कोशिश, विघटनशील यथार्थ से सजग मुठभेड़, अदम्य जिजीविषा और रोमान को छूता आशावाद-समस्याओं को छूमंतर कर देने के भोले विश्वास में सुखद अंत की ओर प्रयाण करते दोनों उपन्यास- 'पठार पर कोहरा' (द्वितीय संस्करण 2005) और 'पांव तले की दूब' (प्रथम संस्करण 2005)- बस, दोनों उपन्यासों में कुछ जगहों, पात्रों और लोकल के नाम बदलने भर हैं। तब एन.टी. पी.सी., डोकरी के जनरल मैनेजर सुदीप्त/सुदामाप्रसाद का चोला पहन लेते हैं अध्यापक संजीव और गजलीटोरी बन जाता है मेझिया गांव। अपनी-अपनी कर्मभूमियों का कायापलट करने के लिए दोनों की लगभग एक सी कार्यशैलियां हैं - शिक्षा का प्रसार, अंधविश्वासों-पूर्वग्रहों से मुक्ति तथा स्थानीय लोगों का विश्वास और भागीदारी अर्जित कर विकास कार्यों का निष्पादन। अध्यापक संजीव अपेक्षाकृत अधिक धीर-गंभीर हैं। सतह के नीचे समस्या की गड्ढा पेंचीदगियों को सलीके से सुलझा कर आदिवासियों को सभ्य और चेतन बनाना चाहते हैं। उनके तर्क आश्वस्त भी करते हैं कि 'किसी के विश्वासों का सिर्फ मजाक बना कर उसकी चेतना को मांजना-धोना असंभव है। यह तो तभी संभव है जब आस्थावान की आस्था और विश्वास को धीरे-धीरे सार्थक चिंतन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर झुकने को विवश कर दिया जाए। एक तर्कसंगत सोच निर्मित की जाए और इस दीर्घकालीन प्रक्रिया में पूरे धैर्य और सावधानी की जरूरत होती है।' ('पठार पर कोहरा', पृ0 142) सुदीप्त का लक्ष्य आदिवासियों की दशा में सुधार के साथ नाजायज श्रमिक आंदोलनों को शांत करना और औद्योगिक उन्नति के लिए पूंजीपतियों और श्रमिकों, सरकार और आदिवासियों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध विकसित करना है। कालीचरण किस्कू और शीला के रूप में 'बहकी हुई आदिवासी अस्मिताओं' का चित्रण कर कथाकार संजीव और सुदीप्त दोनों हताशा की हद तक अवसादग्रस्त हैं। यथार्थ की तलख जानकारी उन्हें विश्वास दिलाती है कि पिछड़ेपन (आदिवासियों के संदर्भ में) और हठधर्मिता (प्रशासन तंत्र के संदर्भ में) के स्याह अंधेरों में डूबा डैड लॉक संवाद के आधार पर बुनी गई साझा रचनात्मक कोशिशों को निष्फल बनाएगा ही। लेकिन इसके बावजूद उनका उत्कट विश्वास ऐसी किसी भी संभावित असफलता का सामना करने को तैयार नहीं। इसलिए माझी हड़ाम के भीतर चेतना की लौ सुलगा कर सुदीप्त परिदृश्य से पलायन कर जाते हैं, लेकिन कथाकार संजीव की लेखकीय प्रतिबद्धता अपने पात्र के द्वारा बोई गई फसल का जायजा लेने मेझिया गांव पहुंच जाती है। उल्लास से थिरकते मेझिया गांव ने मानो पुरानी केंचुल उतार कर नई चूनर ओढ़ ली है। उसके जर्ने-जर्ने

में जीवित प्रेरणा के रूप में सांस ले रहा है मृत सुदीप्त। अपनी नियति बदलने के लिए सरकार या सरकारी तंत्र की आवश्यकता नहीं, बस, चीनी कहावत के अनुसार पहाड़ काटते रहने की अविराम धुन - 'मैं मर गया तो बाकी पहाड़ मेरे बेटे काटेंगे, वे भी मर गए तो बेटों के बेटे। एक न एक दिन पहाड़ को खत्म होना ही है।' ('पांव तले की दूब', पृ0 80)

न, मैं इस आशावाद को बचकानी हरकत कह कर खारिज नहीं कर सकती। आंखों में सपने और कुछ कर गुजरने का जनून हाथों में हो तो असंभव कुछ नहीं रहता। लेकिन सबसे पहले अपने को ही इस असंभव को संभव कर डालने का विश्वास दिलाना पड़ता है - एक ऐसा विश्वास जिसे जगत् की उपेक्षा और उपहास तोड़ते नहीं, गहराते चलते हैं। तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद अपने भीतर के आशावाद और संघर्षशीलता को बचाए रखना - यह एक ऐसा बिंदु है जो रेणु, संजीव और राकेश कुमार सिंह को बहुत गहरे जोड़ता है। 'कम्युनिस्ट? नहीं तो। मैं... तुम मुझे ह्यूमनिस्ट समझो बंधु' - राकेश कुमार सिंह उत्फुल्ल भाव से निष्कर्षात्मक टिप्पणी भी दे डालते हैं। फिर भी इतना तय है कि परिस्थितियों और पात्रों पर जितनी गहरी पकड़ प्रतिभा राय की है, वह संजीव के पास नहीं। आदिवासी क्षेत्र का विकास संजीव का सपना है तो प्रतिभा राय के लिए कठिन चुनौती। इसलिए संजीव (और राकेश कुमार सिंह भी) जहां गैर आदिवासी सभ्य, सुशिक्षित, आदर्शवादी नायक को समाजसुधारक की भूमिका में उतार कर संतुष्ट हो जाते हैं, वहीं प्रतिभा राय इसे मात्रा हाइपोथीसिस (प्राक् कल्पना) मानती हैं। इसलिए उनकी पहली मुठभेड़ इसी समाजसुधारक की मंशा और नीयत से है। वे जटिलताओं के भीतर कथासूत्रों को विन्यस्त करते हुए इन समाजसुधारकों को ओढ़ाई गई मसीहाई भंगिमा से मुक्त कर सामान्य व्यक्ति बनाती हैं - एक भौतिक पहचान के साथ परिवार-समाज की भौतिक व्यवस्था में उलझी-जकड़ी सामान्य इकाई। अपवादों के सहारे यूटोपिया रचा जा सकता है, लेकिन प्रतिभा राय विडंबनापूर्ण जीवन जीते बोंडा आदिवासियों पर अपने आशावाद को लादना नहीं चाहतीं। वे राकेश कुमार सिंह के इस कथन से कहीं सहमत भी हैं कि 'सभ्य और आधुनिक बनाने में आप उन्हें जिस संसार से जोड़ने जा रहे हैं, वहां उनकी परंपरागत व्यवस्था या वन-मूल्यों को वह मान्यता कभी नहीं मिलने वाली जो सदियों से उनके जीवन मूल्य में शामिल है।' (पठार पर कोहरा, पृ0 173) जो अपनी छाती ठोकते नहीं अघाते, प्रतिभा राय उन्हीं को बेहद तिक्ततापूर्वक प्रश्नांकित करती हैं - 'कमेटी के आने से पहले सड़क बन चुकी है। इलेक्ट्रिक के आठ खंभे लग चुके हैं। सड़क के दोनों ओर जंगल का पेट चीर कर बोंडा गांव में बिजली जली तो अंधेरा कट जाएगा। बिजली, नलकूप, टिन की छप्पर, इंदिरा आवास,



कार्पेट-तालीम, लीडर के बगीचे के विदेशी फूल, घर में सोफा-टेबल-चेयर, साड़ी वाली बोंडनी की संख्या में बढ़ोत्तरी, बोंडनी के लंबे केश, पहाड़ पर तीन मंदिर, गेहूं का दलिया बांटते छ: आंगनबाड़ी, एक अधमरा आश्रम स्कूल, दांतीपाड़ा में चालू एक प्राइमरी स्कूल, प्रोजेक्ट के बगीचे के केले, अन्नानास... उन्नति की कितनी ही बातें दिख रही हैं।' (आदिभूमि, पृ0 429) रणेन्द्र 'ग्लोबल गांव के देवता' में यदि इतिहास, शोध, रिपोर्टाज और आरोपण के आकर्षण से मुक्त होकर सिर्फ कथा पर फोकस करते तो प्रतिभा राय की तरह आदिवासी समाज की भीतरी धड़कनों, तड़पनों और दरकनों को बारीकी के साथ उकेर पाते। बेशक इतिहास और शोध का उपयोग कथा-युक्तियों के रूप में प्रतिभा राय के यहां भी भरपूर है, लेकिन उपन्यास के विशद कलेवर में वह बोंडा समाज और संस्कृति की प्रामाणिक जानकारी की आधार-सामग्री बन कर उभरता है, कथा के प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले घटक के रूप में नहीं। अलबत्ता यह कहने में कोई संकोच नहीं कि रणेन्द्र ने जहां कथा के फैलाव को सिकोड़ कर जीवन के स्पंदनों का गला टीपा है, वहीं प्रतिभा राय ने उसे अनावश्यक विस्तार देते हुए आवृत्तियों से भर दिया

है। कथा-शिल्प की दृष्टि से 'पांव तले की दूब' (और किसी हद तक 'पठार पर कोहरा' भी) बेहतर कथाकृति है जहां घटनाओं और चरित्रों पर पकड़ लेखकीय अंतर्दृष्टि से ज्यादा लेखकीय कौशल को उजागर करती है। इन सबसे भिन्न 'अग्निगर्भ' उपन्यास अपनी अलग पांत बनाता है। इस उपन्यास में लेखकीय सरोकारों की गहरी तड़प के कारण जहां एकशन तड़ित वेग से गिरते झरने की तरह आर-पार की लड़ाई के बिंब को रचता है, वहीं लेखिका की गहन अंतर्दृष्टि आवेशजनित आवेग को थहा कर फौरी संघर्ष को मिशन और अस्मिता संघर्ष का रूप दे देती है। यही वजह है कि एकमात्र इसी उपन्यास में पाठक चलचित्र/टी.वी. के दर्शक की तरह अपने सामने चलती तस्वीरों को निःसंग भाव से देखता नहीं, भोक्ता के रूप में उनसे तादात्म्यकरण कर उन्हें जीने लगता है।

अलबत्ता राकेश कुमार सिंह की उपर्युक्त टिप्पणी को पढ़ने के बाद एक सवाल जरूर मस्तिष्क में टंगा रह जाता है कि गैर आदिवासी लेखकों द्वारा रची गई ये रचनाएं क्या वास्तव में आदिवासी समाज के मनोविज्ञान और संत्रास को, सपनों और हसरतों को समझ पाई होंगी? या ये रचनाएं ठीक उसी प्रकार आदिवासी समाज की पीड़ा और हताशा, निष्क्रियता और जड़ता पर 'अलंकृत' सहानुभूति का लेखाजोखा हैं जिसे दलित रचनाकार 'कफन' कहानी में लक्षित कर लेते हैं और तमाम बौद्धिक कवायद के बावजूद सर्वण समाज उनकी इस व्याख्या को समझने के लिए सहमत नहीं हो पाता? स्त्री लेखन के संदर्भ में बेशक स्वयं कुछ लेखिकाओं के साथ-साथ विद्वद्जन कहते रहें कि रचना के घोर ऐकांतिक सृजनधर्मी क्षण में व्यक्ति न स्त्री होता है, न पुरुष। वह सिर्फ सृष्टा होता है- भीतर की व्यग्रताओं और सरोकारों, संवेदनाओं और सपनों से बिंधा। लेकिन स्वयं स्त्री और रचनाकार होने के नाते तमाम आरोपित भंगिमाओं का निषेध करते हुए मैं इस आत्म-सत्य को रेखांकित करना चाहूंगी कि बेशक सृजन के समय रचनाकार सृष्टा होता है, लेकिन उसके सृष्टा के भीतर बैठा बोध उसके वर्ग, धर्म, लिंग और वय से निर्देशित-प्रभावित होता हुआ उसे जो दृष्टि और संवेदना देता है, वही उसके लेखकीय व्यक्तित्व का सृजन करता है और रचना में प्रतिफलित होता है। इसलिए प्रतिभा राय सहित अन्य सभी आदिवासी विमर्शकारों की टिप्पणियों की सत्यता की जांच की जानी चाहिए कि क्या सचमुच आदिवासी अपनी ही चौहदियों में घिर कर जीवन को उसी एक बिंदु में समेट लेना चाहता है? 'बोंडा आदिम सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है, तभी बोंडा पहाड़ का इतना महत्व है। ऊपर बोंडा यदि तलबोंडा की तरह मिलावटी बन जाएंगे तो बोंडा पहाड़ की न प्रमुखता रहेगी और न कोई विशेषता। लाभ क्या? अतः बोंडा खुद भी नहीं चाहता कि बदल जाए। सबमें मिल जाए। गंवा दे अपने निजी संस्कार

और संस्कृति को - यह अन्य लोग भी शायद नहीं चाहते।' (आदिभूमि, पृ0 265) 'अन्य लोगों' का न चाहना एक बड़े सत्य के रूप में इन सभी रचनाओं में रेखांकित हुआ है और स्वीकृत भी। बहस उनके इस आत्मस्वीकार पर नहीं (हालांकि यह शर्म का मुद्दा जरूर है), आदिवासियों के जीवन स्तर (आदिम अवस्था) को यथावत् बना रखने की साजिशों पर होनी चाहिए। आदिवासी रचनाकारों की विपुल साहित्यिक उपस्थिति के बिना यह विमर्श अधूरा है, लेकिन इसके दूसरे पूरक अर्धांश (मुख्यधारा के सभ्य समाज द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में विकास के नाम पर विकृतियों और नकारात्मकताओं को रोपने की कोशिश) को गुन कर शर्मसार होना और 'मनुष्य' बनने के लिए उन्नत मूल्यों को अपने भीतर संजोना क्या ज्यादा जरूरी नहीं? आदिवासी विमर्श पिछड़ों की बजाय क्या अगड़ों को सभ्य होने की सलाह नहीं देता?

सन्दर्भ :-

- 1 श्रीप्रकाश मिश्र, 'रूपतिल्ली की कथा' पृ0 86
- 2 संजीव, पांव तले की दूब, पृ0 16
- 3 'पठार पर कोहरा', 'पांव तले की दूब' और 'ग्लोबल गांव के देवता' में भी ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहां आदिवासी समाज की सांस्कृतिक विशिष्टताएं अनेक उत्सवों-पर्वों, अंधविश्वासों, जादू-टोनों और डायन-ओझाओं के जरिए प्रकट हुई हैं। 'पांव तले की दूब' में डायन को जला कर मारने और 'रोग कुदाने' का प्रसंग, 'ग्लोबल गांव के देवता' में धान का बिचड़ा डालने के समय नरबलि के प्रतीक रूप में नर रक्त की तलाश में घूमते 'मूड़ी कटवा लोग'; और 'पठार पर कोहरा' में 'आरखांड' (दहकते अंगारों पर नंगे पांव चलने का उत्सव) सहित सरहुल, गितिओर (घोटुल के समकक्ष संस्था), खरजितिया और करमा का त्योहार, 'जनी शिकार' आदि प्रकरण कथा में सानुपातिक ढंग से गुंथे हुए हैं। दूसरे, उनकी मान्यताएं और आस्थाएं क्रॉस कल्चरल प्रभाव के कारण निरंतर क्षरण-संवर्धन की संयुक्त प्रक्रिया से गुजर कर विकासशील रूप लेती दिखाई देती हैं जिसे भाषा के स्तर पर परस्पर समन्वय की सकारात्मक विकास-यात्रा के रूप में चीन्हेते हैं राकेश कुमार सिंह - 'झारखंड में मुंडारी, संथाली और खड़िया का भाषा भंडार और नागपुरिया बोली की लोक संस्कृति एक-दूसरे में खूब घुलामिल कर एकमेक हो चुके हैं। विभिन्न बोलियों के मिश्रण ने एक नया भाषा-संस्कार निर्मित कर दिया है जिसे आत्मसात् कर चुका है मुंडा समाज।' पृ0 200
- 4 इन जनतांत्रिक राज्यों में सभी बराबर हैं। राजा प्राइमस इंटर पेरिस यानी बराबरों में प्रथम ('रूपतिल्ली की कथा' पृ0 156), किसी भी सामान्य जन की तरह एक अदना आदमी (पृ0 264) जिसे राज्य चलाने की अतिरिक्त जिम्मेदारी सौंप दी गई है। 'आदिभूमि'

- उपन्यास के बौद्ध समाज में भी गणतंत्र की प्रतिष्ठा है जहां 'गांव के नायक का चुनाव गांव के लोग करते हैं, तीन साल के लिए। इसी बीच नायक यदि अन्याय करे, उसे निकाल दूसरा ला बिठाते हैं। नायक का बेटा नायक बनने का चलन नहीं है यहां। तभी पिता का नायकपन बेटे के मिजाज में नहीं चढ़ता। नायक भी दूसरे बेनायक गांववालों से ऊपर नहीं कि न्यारा नहीं। यहां कौन नायक है और कौन दिशारी, कौन धांगड़ा माझी है और कौन किरसानी - ये जानने का कोई उपाय नहीं। सबके घर समान हैं, घर में चीजें भी हांडी-बासन इकसार हैं। हांडी में मांड, लांडा, साग भी इकसार हैं।' प्रतिभा राय, 'आदिभूमि', पृ0 137
- 5 जहां राजा और देवाधिपति को एकमेक करने के 'दैवीय आदेश' के तहत राजा को सर्वसुलभ आम आदमी न बनने की दीक्षा दी जाती है कि 'चूंकि आप स्वयं देव हुए, इसलिए आपके ऊपर धूप नहीं लगनी चाहिए... बिना आसन के नहीं बैठेंगे, बिना सवारी के नहीं चलेंगे... सनातन धर्म का पालन करेंगे... गौ-ब्राह्मण की रक्षा करेंगे। प्रजा का पालन करेंगे। और इन तमाम बातों के लिए आप किसी की आज्ञा मानने के लिए बाध्य न होंगे। आप संप्रभु होंगे।' श्रीप्रकाश मिश्र, 'रूपतिल्ली की कथा', पृ0 189
- 6 यहां मातृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण रियासत की मालकिन भले ही स्त्री हो, राजा पुरुष ही है क्योंकि मर्द लड़ता है। फिर इस लड़ाकू (शूरवीर?) पुरुष के लिए स्त्रियों का अपहरण अनुचित कैसा? यह अलग बात है कि बाल्यावस्था से ही तीर चलाने का प्रशिक्षण लड़कों को दिया जाता है, लड़कियों को नहीं। उन्हें तो जन्म के साथ ही 'दाव और उ स्तार' (टोकरी ढोने की रस्सी) के साथ बांध दिया जाता है - श्रम और भूमिकाओं के सुनिश्चित निर्धारण के साथ। वही, पृ0 38
- 7 ध्यातव्य है कि उ थ्लेन (सर्प देवता) के लिए बलि जुटाने हेतु जोरराय ने राफताब की 'हत्या' की है। खासी समुदाय राफताब की मृत्यु पर दुखी है लेकिन जोरराय के कृत्य को अनुचित भी नहीं मानता। वही, पृ0 239
- 8 'जीवन को गौर से देखो तो आदमी जन्म लेता है, बड़ा होता है ... कुछ करता है और एक दिन मर जाता है, अपने पीछे एक पूरा संसार छोड़ कर उसी की तरह जीवन को दुहराने के लिए। तो क्या यही मंजिल है? नहीं, मंजिल तो वह खुद निर्धारित करता है और उसके लिए चलता है।... जीवन में वह क्षण बस अचानक आता है।... अगर आदमी तैयार है, उसे पहचान गया, पकड़ लिया तो जीवन सुकारथ हो गया। नहीं तो जैसे सबका बीता, वैसे ही उसका बीता।' श्रीप्रकाश मिश्र, रूपतिल्ली की कथा, पृ0 16
- 9 'जलती चट्टान पर घूमती चींटी का कोई लक्ष्य नहीं होता, रात के

अंधकार में विचरते जुगनू का कोई लक्ष्य नहीं होता, वह वैसे ही चलता जा रहा है। नजपत जाकर, अल्खी का हाल जान कर, अंग्रेज के लिए काम कर क्या होगा? एक लम्बे जीवन का लघु पड़ाव ही न! और उस लम्बे जीवन का लक्ष्य क्या है?' वही, पृ0 108

- 10 रणेन्द्र, 'ग्लोबल गांव के देवता', पृ0 79
- 11 'स्वतंत्रता के बाद कानून ने तो बुरी बात नहीं कही। बटाई के किसानों को दो हिस्से देने की बात थी। किसान सभा ने उधर ध्यान नहीं दिया।... खेत मजूर का अधिकार चाहने पर धनी किसान-मध्यम किसान बिगड़ जाएंगे। उनकी एकता के लिए किसान सभा चलती रहे।' अग्निगर्भ, पृ0 39
- 12 'सी.पी.एम.नहीं, सी.पी.आई.नहीं, न नक्सल। यह पथ बसाई टूटू पथ है' यानी 'जिससे काम होगा। कानून की ओर जाने से जहां काम होगा, वहां कानून। जहां कानून का अंगूठा जमींदार दिखाएगा, वहां उंगली टेढ़ी करेंगे। नक्सल मुझे मदत देते हैं तो मदत लूंगा।' वही, पृ0 54
- 13 राकेश कुमार सिंह, पठार पर कोहरा, वही, पृ0 19
- 14 वही, 47-48
- 15 महाश्वेता देवी, 'अग्निगर्भ', पृ0 24
- 16 'राष्ट्र-राज्य की हिंसा का कोई जवाब ही नहीं हो सकता।... राज्य की नींव में ही केवल हिंसा की ईंटें नहीं लगी हैं, बल्कि उसके महल की हिंसा की ईंटों से ही चिनाई हुई है। यही एकमात्र संस्था है जिसने हिंसा को भी सांस्थानिक रूप दिया है। उसकी सेना, सशस्त्र बल, पुलिस सब सैद्धांतिक तौर पर हिंसा के लिए ही प्रशिक्षित हैं। राष्ट्र-राज्य अपने को सुरक्षित रखने के लिए इनसानों का इनसानों के द्वारा ही नाश कराता है।' रणेन्द्र, 'ग्लोबल गांव के देवता', पृ0 92
- 17 राकेश कुमार सिंह, पठार पर कोहरा, पृ0 243
- 18 उल्लेखनीय है कि जनगणना अधिकारी इस सुदूर अंचल में जाकर काम करने की अपेक्षा घर बैठे अनुमान से ही आंकड़ों की पूर्ति करते रहे हैं। इसलिए उनके रिकार्ड में गजलीठोरी नहीं, 'गजनीठोर' गांव है जहां कुल तीस परिवार बसते हैं और प्रति परिवार दो वयस्क अर्थात् साठ व्यक्ति और परिवारों की संख्या के तिगुने यानी नब्बे बच्चे हैं।

□□

258, हाजसिंग बोल्ड कालोनी

रोहतक-124001

मो. 09416053847